हिमालय

साहित्यिक पुस्तक-माला

११

सम्पादक

शिवपूजन सहाय

पुस्तक-भंडार

हिमालय प्रेस, पटना

आग्रहायणी, संवत् २००३

'हिमालय'-पुस्तक-माला के ग्राहकों को आवश्यक सूचना

'हिमालय' की एक प्रति का मूल्य १) और वार्षिक १०) है। ह्वीलर-बुकस्टाल पर यह सर्वत्र मिलता है। प्रमुख नगरों में एजेंट भी हैं। 'पोस्टिंग सर्टिफिकेट' के अन्दर प्रतिमास भेजा जाता है। डाक में गुम होने पर हम दूसरी प्रति देने में सर्वथा असमर्थ हैं। प्रति पुस्तक सवा तीन आने रजिस्ट्री-खर्च जमा कर देने पर गुम होने का कोई भय नहीं। बारहवाँ अंक छप रहा है, शीघ्र पाठकों को मिलेगा। जिन ग्राहकों के जो अंक गायब हो गये हों वे उन अंकों के मूल्य और रजिस्ट्री-खर्च भेजकर मँगा लें, नहीं तो पीछे शायद ही मिलें। प्रत्येक पत्र में ठीक ग्राहक-संख्या न लिखने से उत्तर नहीं दिया जाता।

—प्रबन्धक

०

०

मुद्रक—श्रीमहादेवसहाय सिंह अष्ठाना, हिमालय प्रेस, पटना; दिसम्बर १९४६ ई०

टामी पीर

शहर के बाहर एक मशहूर पीर का मकबरा है। जिस दिन पीर साहब समाधिस्थ हुए थे, उस दिन हर साल वहाँ मेला लगता। हिन्दू-मुसलमान, मर्द-औरत, बच्चे-बूढ़े—सभी जाते; मजार पर फूल चढ़ाते, सिर टेकते, पैसे नजर करते और फिर मेले का तमाशा देखते। मेले के दिन के अलावा रोज ही दस-पाँच आदमी तो मजार पर जाते ही।

मकबरे तक शहर से जो सड़क जाती थी उस पर शहर और मकबरे के बीच एक और भी छोटी-सी कब्र थी। कब्र पर जो पक्का चबूतरा बना था उसे देखने से मालूम होता—मानों किसी बच्चे की यादगार हो। जो लोग पीर साहब के मजार पर पूजा करने जाते, वे इस छोटी कब्र के पास भी दम-भर रुक जाते, दो-चार फूल वहाँ भी चढ़ाते और दुआएँ माँगते—मशहूर था कि वह मजार भी किसी 'टामी पीर साहब' का है, जो बड़े पीर साहब के शागिर्दों में से थे। लेकिन, ठीक-ठीक पता किसी को न था। यह भी कभी-कभी सुनने में आता था कि पीर साहब की गद्दी पर जो नये पीर जा-नशीन थे वह लोगों को मना भी करते थे कि 'टामी पीर' के मजार की पूजा न करें; लेकिन वजह पूछने पर चुप रह जाते थे। कुछ भी हो, सिवा उनके थोड़े-से शागिर्दों और पास आने-जानेवालों के और-कोई उनकी बात सुनता न था—बल्कि यह कहना ठीक होगा कि जानता ही न था। नतीजा यह होता कि मकबरे को जाते समय 'टामी पीर' की कब्र पर भी फूल चढ़ते ही, चिराग जलते ही, दुआएँ माँगी ही जातीं।

मैं भी एक रोज सैर के खयाल से मकबरे की ओर निकल गया। रास्ते में वह छोटी कब्र भी मिली। लौटते समय दो-चार मुसलमानों का साथ हो गया, जो पीर साहब से दुआएँ माँगकर लौट रहे थे। बातचीत होने लगी। पीर साहब का गुणगान हुआ। उनकी दुआओं में जो ताकत थी, उसका जिक्र हुआ। एक साहब शायर-मिजाज थे; उन्होंने दो-चार शेर कहे। इतने में वह छोटा मजार आ गया। मैंने उसके मुतल्लिक दरयाफ्त किया। पता चला, एक 'टामी पीर' साहब थे, उनका ही मजार है; टामी साहब शायद बड़े पीर साहब के मुरीदों में थे।

मुझे 'टामी' नाम खटका। मैंने उनके सम्बन्ध में कई सवाल किये। शायर साहब के अलावा बाकी हमारे सब साथी अनपढ़ गँवार थे। उन्हें ज्यादा पता तो

था नहीं। शायद साहब कुछ जानते हों, मालूम नहीं; लेकिन उन्होंने भी कुछ बताया नहीं। फिर भी उनके लोगों के मुँह से मालूम हुआ कि वह 'टामी' साहब की कोई बात पसंद नहीं करते—उनके मजार पर वह कभी जाते भी नहीं, हालाँ कि दरगाहवालों का भत्ता लेने के लिए मकबरे में बराबर जाते।

'टामी' नाम के सम्बन्ध में, और उनके महात्म्य के अनुमान से, टामी पीर का पूरा हुलिया जानने को मैं बेचैन हो गया। दो-चार हफ्तों की छानबीन के बाद जो-कुछ ज्ञान मालूम हुआ उससे कभी तो हँसने को जी चाहे, कभी रोने को। हमारा अंधविश्वास भी हमें कहाँ ले जाकर फेंक देता है।

टामी पीर की कब्र के पास ही एक पुराना बँगला था—उजाड़ और बे-मरम्मत; पलस्तर झड़कर गिर रहा था, चहारदीवारी की ईंटें तितर-बितर हो रही थीं। मकान की यह हालत इसलिए हो गयी थी कि एक तो शहर तनज्जुली पर था, वहाँ का व्यापार-धंधा मंद पड़ गया था और धीरे-धीरे शहर-का-शहर उजाड़ हुआ जा रहा था; दूसरे—यह मशहूर हो गया था कि यह बँगला भूतों का बसेरा है। किरायादार तो कोई आता न था। मकान-मालिक भी लावारिस मर गया। उसके वंश के और लोग दूसरे शहर में जा बसे थे।

अब, गौर से देखने पर, मालूम हुआ कि वह कब्र पहले उस बँगले के अहाते में ही बनी थी। इस बात को ईंट की एक नीची-सी चहारदीवारी उसके चारों तरफ खिंची थी वह उस बँगले की चहारदीवारी की ईंटों से ही चुनी गई थी। लेकिन सरसरी निगाह से देखने पर यही जान पड़ता था कि बँगले से कब्र का कोई सम्बन्ध नहीं था।

बँगले और कब्र का इस तरह जब तअल्लुक कायम हो गया तब मैंने यह पता लगाने की कोशिश की कि बँगले का पिछला किरायादार कौन था। मकान-मालिक के जो रिश्तेदार दूसरे शहर में चले गये थे, उनसे मिला। वहाँ सिर्फ इतना ही मालूम हुआ कि सत्तर-अस्सी वर्ष हो गये, एक गोरा साहब किराये पर उस मकान में रहता और अफीम का व्यापार करता था। बही-खाता देखने पर पता चला कि उसका नाम 'राबिन्सन' था। खोज-ढूंढ़ से यह भी मालूम हुआ कि साहब अपने एक मुन्शी से, हर महीने की आठवी तारीख को, किराया भिजवा दिया करता था। मुन्शीजी के कई दस्तखत चिट-पुर्जों पर थे, जिनका शोध करने पर पता चला कि उनका नाम था 'नौरंगीलाल'।

अब सवाल हुआ कि यह नौरंगीलाल थे कहाँ के और इनके घर में अब कोई जिन्दा है या नही। वहाँ तो और कुछ पता चला नही, इसलिए मै अपने शहर को वापस आ गया। यहाँ बहुत पूछताछ करने पर अफीम का एक बूढ़ा दूकानदार

मिला जिसका बाप 'राविन्सन' के साथ कारबार करता था। अफीम की खेती बन्द हो जाने के सबब से अफीम का व्यापार बहुत मंद पड़ गया था लेकिन यह दूकानदार अफीम बेचने का लैसन्स लेकर एक छोटी-सी दूकान किये हुए था। नौरंगीलाल का पता तो उसको न था, लेकिन उसने यह बताया कि शहर का कोई एक बड़ा रईस हीरालाल है, जिसके बाप-दादा ने अफीम के व्यापार में लाखों रुपये बनाये थे।

मैं हीरालाल की गद्दी पर गया। वहाँ उनके मुनीम से पता चला कि हीरालाल तो नौरंगीलाल का ही पोता है। मुनीम की उम्र कोई सत्तर साल होगी। मैंने सोचा, नौरंगीलाल के घर का भेद इससे ज्यादा कौन जानता होगा। इधर-उधर की बातें करते-करते 'राविन्सन' के मुतल्लिक बातें होने लगीं—"नौरंगीलाल राविन्सन साहब के मुन्शी थे। और, सच पूछिए बाबूजी, तो साहब को बूढ़े लाला ने बड़ा उल्लू बनाया था। ऐसे गहरे हाथ मारे कि साहब को पता भी न चला। रुपयों का ढेर उठाकर घर में धर लिया। साहब तो आखीर दम तक मुन्शीजी की ईमानदारी का गुणगान ही करता रहा।"

मैंने साहब के बँगले की बात छेड़ी। बूढ़ा मुनीम मुस्कुराया, बोला—"बाबूजी, भूत-दूत कुछ भी न था वहाँ। मकान-मालिक के पट्टीदारों ने यह सब तमाशा रचा था, ताकि उसकी वह जायदाद खतम हो जाय। वह बेचारा तो मिट ही गया, ससुरे खुद भी भीख माँगने लगे। दूसरों का जो बुरा करता है वह कभी सुखी नहीं रह सकता—बाबूजी!"

मेरी आँखों में ऐसे कई महानुभावों के चित्र नाच उठे, जो दूसरों का खून पी-पीकर मोटे बने हुए थे। लेकिन मुनीम की बातों पर मैं चुप ही रहा, बल्कि सिर हिलाकर गम्भीरता के साथ अपनी सहमति भी प्रकट की। कुछ देर बाद, मैंने 'टामी पीर' का जिक्र किया। मुनीमजी खिलखिलाकर हँस पड़े, बोले—"आपको नहीं मालूम उस पीर का भेद? आधा शहर तो जानता है।" मैंने कहा—"मैं तो हफ्तों से इसी छानबीन में लगा हूँ, लेकिन अबतक तो आपके सिवा मुझे कोई ऐसा न मिला जिसे उसका पता हो।"

बूढ़े ने मुझे अचरज-भरी आँखों से देखा। एक ठंढी साँस लेकर बोला—"हाँ, अब पुराने लोग है ही कहाँ? और, यह शहर भी तो उजड़ गया! तो लीजिए, मैं आपके दिल की गुदगुदी मिटाये देता हूँ। 'टामी पीर' राविन्सन साहब का एक प्यारा कुत्ता था। उस वक्त उसे पीरी न मिली थी, सिर्फ एक कुत्ता ही था; लेकिन बहुत अच्छी नस्ल का—और सुनते हैं, बड़ा खूबसूरत और बहादुर। साहब और उसकी मेम उस कुत्ते को जी-जान से प्यार करते—निःसन्तान होने के कारण सारा लाड़-प्यार उस प्यारे कुत्ते पर ही निछावर कर

देते। दुर्भाग्यवश वह कुत्ता बीमार हुआ और इस दुनिया से चल बसा। साहब और उसकी मेम के शोक का आप अन्दाजा कर सकते हैं। उन्होंने अपने अहाते के एक कोने में उसे दफनाया और उसकी समाधि पर एक अच्छा-सा चबूतरा बनवा दिया। सुना है—सुबह को बाग से फूल तोड़कर मिसाँ-बीबी उस कब्र पर रोज रखा करते।"

अच्छा! तो यह बात है? तो आज हम और हमारे मुसलमान-भाई एक कुत्ते की पूजा कर रहे हैं? मैं तो इसका भंडाफोड़ किये बगैर न रहूँगा!

—मेरे ये उद्‌गार सुन बूढ़ा मुनीम थोड़ी देर चुपचाप बैठा रहा। फिर धीरे से बोला—"जाने दीजिए बाबूजी, इससे क्या फायदा होगा? जो लोग 'टामी पीर' की कब्र पर आज दुआएँ माँगने और श्रद्धा के फूल चढ़ाने जाते हैं, वे थोड़े ही जानते हैं कि वह एक कुत्ते का मजार है! उन्हें तो किसी नेक पाक पीर का ही खयाल रहता होगा—उनके सिजदों और प्रार्थनाओं से उनके दिल का मैल कुछ-न-कुछ धलता ही होगा।"

सहसा मैं उस बूढ़े की बात का जवाब न दे सका। कुछ देर चुप बैठा रहा। फिर मुनीमजी को बहुत धन्यवाद देकर, कुछ सोचता-सोचता अनमना-सा, घर लौट आया!

[लाहौर-किला, १९४४



बच्चन

मिलन-यामिनी

मैं गाता हूँ, इसलिए जवानी मेरी है।

वे दुर्गम पथ का श्रम-संकट भी क्या जाने
जो उसपर पाँव बढ़ाते गाते जाते हैं,
जिनके कंठों में गीत नहीं धीमे पड़ते
वे फूल सदृश पर्वत का बोझ उठाते हैं,

मैंने दुख-सुख हर हालत में गाना जाना,
मुझको जीवन का भार सदा श्रृङ्गार हुआ,

वह कुचला करता है उनको ही, रागों में
अपने अनुभव को बाँध नहीं जो पाते हैं।

यौवन जिसका है तान वही भर सकता है,
लेकिन मैं तो कुछ उलटी कर दिखलाता हूँ

मैं गाता हूँ, इसलिए जवानी मेरी है।

२

तुम मेरे पथ के बीच लिये काया भारी-
भरकम क्यों जमकर बैठ गये कुछ बोलो तो
अचरज है तुमको छूता है संगीत नहीं
तुम बोल नहीं पाते तो झूमो, डोलो तो,

रागों की रोकी जा सकती है राह नहीं
रोड़ो, हठधर्मी छोड़ो, मुझसे मन जोड़ो,

तुमसे भी मधुमय शब्द निकलकर गूँजेंगे
तुम साथ जरा मेरी धारा के हो लो तो।

तुमने मुँह बाँधा इससे ही तो पाँव बँधे,
ले कंठ खुला मैं आगे झपटा जाता हूँ,

मैं गाता हूँ, इसलिए रवानी मेरी है,
मैं गाता हूँ, इसलिए जवानी मेरी है।

३

कलियाँ मधुवन में गंध-गमक मुस्काती हैं
मुझपर जैसे जादू-सा छाया जाता है,
मैं तो केवल इतना ही सिखला सकता हूँ
अपने मन को किस भाँति लुटाया जाता है,

लिखने दो अपनी दुर्बलता का गीत मुझे,
मैं जग के तर्ज-अमल से हूँ अनभिज्ञ नहीं,

दुनिया अक्सर मेरे कानों में कहती है
इस कमजोरी को, मूढ़, छिपाया जाता है।

मैं किससे बात छिपाऊँ, सब तो अपने हैं,
अपनी बीती में जग-बीती मैं पाता हूँ;

मैं गाता हूँ, यह प्रेम-कहानी मेरी है
मैं गाता हूँ, इसलिए जवानी मेरी है।

४

तुम पा न सकोगे मुझे विश्वविद्यालय में,
* लेक्चरर देनेवाले मुझसे बहुतेरे हैं,
पहचानोगे क्या खाकी वर्दीवालों में,
हर-एक जगह पर इनके डीपी-डेरे हैं;
मैं कलम और बंदूक चलाता हूँ दोनों
दुनिया में ऐसे बंदे कम पाये जाते,
दावा न करूँगा ऐसों में यकताई का
यद्यपि इनपर अधिकार स्वयं कुछ मेरे हैं।
बहुतों ने की जो भूल न तुम भी कर बैठो
इसलिए तुम्हें यह पहले से बतलाता हूँ—
मैं गाता हूँ, यह खास निशानी मेरी है
मैं गाता हूँ, इसलिए जवानी मेरी है।



प्रोफेसर रामखेलावन पाण्डेय, एम०ए०

काव्य और कल्पना

कवि शेली ने कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति (expression of imagination) कहा है। काव्य को रसात्मक वाक्य † अथवा रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द ‡ माननेवाले साहित्य-शास्त्री कल्पना के विषय में मूक हैं। उन्होंने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य का कारण स्वीकार किया है। $

* बच्चन प्रयाग-विश्वविद्यालय में अंग्रेजी-विभाग में लेक्चरर हैं। साथ ही वह युनिवर्सिटी-आफिसर्स-ट्रेनिंग-कोर में लेफ्टिनेंट हैं और स्माल-आर्म्स-स्कूल (सागर) में उन्होंने मशीनगन, राइफल, पिस्तौल आदि चलाने की विशेष शिक्षा पाई है। —सं०

† विश्वनाथ—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

‡ पण्डितराज जगन्नाथ—रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

$ शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥—मम्मट (काव्यप्रकाश)

उनके अनुसार प्रतिभा एक विशेष प्रकार का संस्कार है। काव्य-शक्ति जन्मजात है, ऐसा सभी आचार्य नहीं स्वीकार करते। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में स्पष्ट रूप से लिखा है कि काव्य-निर्माण का प्रबल कारण पूर्वजन्मार्जित प्रतिभा जिसको नहीं है, वह भी श्रुत से अर्थात् व्युत्पत्ति-विधायक शास्त्र के श्रवण-मनन से तथा यत्न से अर्थात् अभ्यास से सरस्वती का कृपा-पात्र हो सकता है।*

संस्कार-रूप में प्राप्त कवित्व-बीज और सहजा प्रतिभा का एक स्थल पर संगम होता है, यहाँ तक पाश्चात्य एवं भारतीय मतों में अधिक अन्तर नहीं। स्पष्ट रूप से उल्लेख न होने पर भी प्रतिभा के अन्तर्गत कल्पना का समाहार हो जाता है। कारण, नवोन्मेष-शालिनी प्रज्ञा ही प्रतिभा † मानी गई है।

कवि वर्ड्सवर्थ ‡ ने कविता को सबल अनुभूति के सहज-प्रवाह की अपेक्षाकृत शान्तावस्था में चर्वणा का फल स्वीकार कर कल्पना के लिए स्थान रख लिया है। कारण, भावों की चर्वणा के लिए उस मानसिक अवस्था में पहुँचने की अपेक्षा है, जिसमें संवेदनशील रागात्मक आवेश प्राप्त हुआ था। रागात्मक आवेश की तीव्रता प्रत्यक्ष करने के लिए उदात्त कल्पना की आवश्यकता होगी। चेम्बर्स ने संगीतमय शब्दों में कल्पना-जन्य और राग-प्रसून विचारों को प्रकट करने की कला को कविता माना है। $

काव्य मे कल्पना की अपेक्षा और अनिवार्यता के संबंध में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में अधिकांश साहित्य-शास्त्री सहमत है। पाश्चात्य मतों का स्रोत अरस्तू (Aristotle) है और उसीके मत विभिन्न रूपों में विभिन्न व्याख्याओं के साथ उपस्थित किये जाते हैं। ठीक उसी प्रकार, रस-सम्प्रदाय की सारी व्याख्याओं एवं मतों का मूल उद्गम भरत का नाट्य-शास्त्र है। यूनानी परम्परा का प्रतिपालन करते हुए अरस्तू ने कला को प्रकृति की अनुकृति कहा है, यद्यपि उसकी व्याख्याओं से स्पष्ट है कि वह इस अनुकृतिवाद को पूर्णतया स्वीकार नहीं करता। प्लेटो ने

* न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना—गुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥ (काव्यादर्श)

† प्रज्ञा नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।

‡ Spontaneous overflow of powerful feelings..... recollected in tranquility.

$ Poetry is the art of expressing in melodious words the thoughts which are the creations of feeling and imagination.

काव्य को प्रकृति की अनुकृति मानकर मानवता के लिए अनुपयोगी सिद्ध किया है। अरस्तू ने अनुकृतिवाद की अर्थ-सीमा विस्तृत की और उसे अपनी व्याख्या से पुष्ट किया। नाटकों को आधार मानकर साहित्य और काव्य की व्याख्या होती रही, अतः उन मतों में इनके संबंध के विचार आ गये। सामाजिक की दृष्टि से भट्ट-लोलट का जो आरोपवाद है, वही नट के दृष्टिकोण से अनुकृतिवाद। यदि काव्य अथवा कला को केवल अनुकृति स्वीकार कर लिया जाय तो कल्पना के लिए स्थान नहीं रह जाता। अरस्तू के अनुकृतिवाद पर विचार करते समय एबरक्राम्बी ने लिखा है कि हमलोग जिसे 'टेकनीक' (Technique) कहते हैं, अरस्तू ने उसे ही अनुकृति कहा है। काव्यगत अनुकृति, जैसा अरस्तू ने अपने सिद्धांत-विवेचन में सर्वत्र प्रयोग किया है, काव्य के उद्गम अथवा काव्य एवं यथार्थ वस्तुओं और घटनाओं के संबंध की व्याख्या नहीं करती *। कविता कल्पना द्वारा रुचिर मनोवेगों के लिए रमणीय क्षेत्र प्रस्तुत करती है, ऐसा रस्किन ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। अरस्तू के बाद के विचारकों ने कविता के लिए कल्पना की अनिवार्यता स्वीकार की। कवियों में, और विशेषकर पिछले खेवे के कवियों मे, इसका अधिक आग्रह दीख पड़ा। शेक्सपीयर ने लिखा—

†The Lunatic, the lover and the poet
Are of imagination all compact.

'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु' द्वारा कालिदास ने प्रेमी के इसी पागलपन—अर्थात् कल्पना-प्रवणता—की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। कवि वर्ड्सवर्थ ने काव्य के उपादान-रूप में सामान्य जीवन एवं प्रकृति का सामान्य रूप ग्रहण किया है, यहाँ तक कि सिद्धांत-रूप मे काव्य-भाषा को भाषा के प्राकृतिक रूप से अविभिन्न मानकर वह चला है। उसने भी लिखा है—"कवि और साधारण मनुष्य में इतना ही अंतर है कि वाह्य उत्तेजना के अभाव में भी विचार और अनुभूति की तीव्रता उसमें (कवि मे) रहती है और इस प्रकार उत्पन्न विचारों तथा अनुभूतियों की सबल अभिव्यक्ति करने मे वह सफल है।" ‡ कोलरिज ने कल्पना का महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार किया है। कालिदास ने कल्पना-जन्य भ्रम का वर्णन शाकुंतल में किया है। चित्र-लिखित शकुंतला मे वास्तविक शकुंतला

* Lascelles Abercrombie : Principles of Literary Criticism.—Page 88.

† पागल, प्रेमी और कवि की कल्पनाएँ एक-सी रहती है।

‡ Preface to the Lyrical Ballads (1880)

का भ्रम स्वयं चित्रकार दुष्यंत को हो गया, अतः शकुंतला के मुखकमल-मधु-पानाभिलाषी चित्र-लिखित भ्रमर को देखकर वह कहता है—

"अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे ! किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि ?
एषा कुसुमनिषण्णा तृषिताऽपि सती भवन्तमनुरक्ता ।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु त्वां विना पिबति ॥"

["ओ पुष्पलता के प्यारे अतिथि ! यहाँ उड़कर बैठने का कष्ट क्यों अनुभव करते हो ? इस कुसुम पर बैठी मधुकरी तुम पर अनुरक्त होने के कारण, प्यासी होने पर भी तुम्हारी राह देख रही है, तुम्हारे विना मधुपान नही करती ।"]

राजा के चित्त-विकार—उन्माद—का कारण चित्रगत और वास्तविक शकुंतला का रूप-सादृश्य नहीं, बल्कि चित्र के उद्दीपन से पूर्वानुभूति का जागरण और इस प्रकार कल्पना का आवेश है । चित्र में यदि वास्तविकता का हम आरोप करें तो भी यह मानना पड़ेगा कि रूप-सादृश्य की वास्तविकता उसमें नहीं आ सकती । अनेक लोक इस दिभ्रम के मूल में राजा की कला-चातुरी देखते हैं । दुष्यंत की चित्र-कला-चातुरी के दर्शन मिश्रकेशी के भ्रम मे होते है। कारण, शकुंतला अथवा शकुंतला के चित्र-द्वारा वह उस राग-भूमि और भाव-भूमि में नहीं पहुँच सकती । यद्यपि मेनका के नाते शकुंतला के साथ उसका भावात्मक संबंध होने से राजा का उसके प्रति प्रेम देखकर भ्रम करना स्वाभाविक ही है । दोनों रूपों में कल्पना का सूत्र स्पष्ट दीख पड़ता है ।

हिन्दीकाव्य के छायावादी युग में कल्पना-तत्त्व पर कवियों का अधिक मोह दीख पड़ा । कल्पना के स्वरूप-निर्णय के समय आधुनिक काव्य और कल्पना के इस संबंध की विवेचना अपेक्षित होगी, यहाँ केवल उनके दृष्टिकोण का विश्लेषण आवश्यक है । महादेवी वर्मा ने लिखा है—

"बाहर के वैषम्य और संघर्ष से थकित मेरे जीवन को जिन क्षणों में विश्राम मिलता है उन्हींको कलात्मक कलेवर में स्थिर कर मैं समय-समय पर उनके पास पहुँचती ही रही हूँ जिनके निकट उनका कुछ मूल्य है ।"*

यहाँ वर्ड्सवर्थ की-सी शान्ति (Tranquility) तो है, मगर रागात्मक प्रवाह की चर्चा नही, यद्यपि संवेदनशीलता का आग्रह ('उनके पास तक पहुँचती ही रही हूँ' में) है । संवेदनशीलता एवं विश्राम के क्षणों में कल्पना की अन्तर्भूत ध्वनि है । श्रीमती वर्मा पाठक की कल्पना की अपेक्षा स्वीकार करती हुई जैसे कहती हैं—'जिनके निकट उनका कुछ मूल्य है' । वाह्य उत्तेजना के अभाव मे अनुभूति का आवेश कल्पना का ही फल है ।

* 'आधुनिक कवि' (भूमिका)—पृ० २५

कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता, सिसकता गान है; —'पंत'

पंत ने वियोगी को पहला कवि माना है। सिसकते गान के मूल में अश्रु है और उन आँसुओं को जन्म देनेवाली वेदना काल्पनिक नहीं, वस्तुतः कल्पना के आवेश के कारण है। इस प्रकार के काव्य के मूल में कल्पना द्वारा उत्पन्न वेदना है। कल्पना की अतिशयता ही 'बच्चन' में सपना बनकर आती है—

'स्वप्नों ने ही मुझको लूटा,
स्वप्नों का, हा, मोह न छूटा,
मेरे नीड़-नयन में आओ, कर लो, प्रेयसि, रैन-बसेरा।'

—'निशा-निमंत्रण' से

कल्पना को 'व्योम-कुंजों की परी' स्वीकार करनेवाले कवियों के प्रति विद्रोह की भावना जगी अत्यधिक वस्तुवादी मोह के कारण। छायायुगीन काव्य-साहित्य में कल्पना का प्राचुर्य देख आज का वस्तुवादी कवि कल्पना के तिरस्कार का संकल्प लेकर चला। किन्तु ऐसा वह कर कहाँ सका? और 'दिनकर' को लिखना पड़ा—

व्योम-कुंजों की परी, अयि कल्पने,
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं,
उड़ न सकते हम तुम्हारे स्वप्न तक
है शक्ति तो फिर आ बसा अलका यहीं।

कल्पना की इस महत्त्व-चर्चा के साथ ही प्रश्न उठता है—कल्पना क्या है? इसका स्वरूप क्या है? और इसने किस रूप में काव्य-जगत् को प्रभावित किया है? कवि कल्पना के स्वरूप के संबंध में शेक्सपीयर ने लिखा है—

"कवि की दृष्टि उल्लास से भरकर पृथ्वी से स्वर्ग और स्वर्ग से पृथ्वी तक घूमती है और जैसे-जैसे कल्पना स्फुरित होती है वैसे-वैसे कवि की लेखनी जिनका अस्तित्व तक नही वैसे अलक्ष्यों को लक्ष्य कर उन्हे नाम-रूप देती है*। अतः विचारणीय यह है कि कल्पना अनस्तित्व का अस्तित्व है क्या?

ज्ञान का मूलाधार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान (Sensation) है। परिस्थिति-विशेष में वस्तु का ज्ञान सहजवृत्ति के द्वारा होता है। अन्य मानसिक क्रियाओं के

* The poet's eye in fine frenzy rolling
Doth glance from heaven to earth,
From earth to heaven.

सहयोग द्वारा मानव-मन में अतः क्षोभ होता है और रागात्मिका वृत्ति जगती है। प्रथम प्रत्यक्ष-ज्ञान और बाद के उसी प्रकार के ज्ञान में अन्तर हो जाता है। चाँदनी रात हमारे मन में एक विशिष्ट भावना—परिस्थिति और 'मूड' के अनुकूल—जागरित करती है। चान्द्रमसी ज्योत्स्ना का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान चक्षुओं के द्वारा होता है और राग-द्वेपात्मक अनुभूति मानसिक क्रियाओं के कारण। ऐसी खुली-धुली चाँदनी में कोई प्रिय व्यक्ति साथ हो, तो ऐसी अवस्था में वैयक्तिक आकांक्षा अथवा वासना के साथ ज्योत्स्ना की भावात्मक-रागात्मक अनुभूति का साहचर्य होगा। चाँदनी के अतः दो रूप होंगे—आलम्बनात्मक और उद्दीपनोचित। आलम्बनात्मक रूप में भी सहजवृत्ति के सामञ्जस्य के कारण ही उसका महत्त्व है, अन्यथा नहीं। कलात्मक—सौन्दर्यात्मक कहना अधिक उपयुक्त होगा—अनुभूति से शून्य व्यक्ति में ज्योत्स्नाजन्य कोई भावात्मक उद्रेक नहीं होगा। साहचर्य के कारण, उद्दीपनात्मक अनुभूति के कारण, चाँदनी की अनुभूति प्रिय व्यक्ति की उपस्थिति में मानस-चक्षुओं के सामने आ उपस्थित होगी; अथवा चाँदनी की रुपहली रातें वियोग के समय प्रिय की याद दिला देंगी। प्रकृति की संवेदना का यही रहस्य है। सूरदास की गोपियाँ कहती हैं—"बिन गुपाल बैरिन भईं कुञ्जैं, तब वे लता लगति अति सीतल अब भईं विपम ज्वाल की पुञ्जैं।" इसके मूल में भी वही भावना है। वे ही लताएँ, जो कृष्ण के साहचर्य से आनन्द की जड़ थीं, विरह में कृष्ण के साहचर्य-अभाव का स्मरण दिला अभिनव व्यथा की सृष्टि करती हैं। इस प्रकार, ज्ञान एवं अनुभूति का आधार प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ज्ञान है, जो स्वाभाविक मानसिक क्रिया का फल है। कल्पना इसी का स्थान ग्रहण करती है और इस रूप में विचार करने के क्षणों में प्रत्यक्ष न रहनेवाली वस्तु के चिन्तन द्वारा रूप-विधान को कल्पना कहते हैं। संज्ञा के प्रयोग द्वारा भावोन्मेप कल्पना-प्रसूत है। मानवीय बुद्धि-परम्परा ने वस्तु का गुण-गत नामकरण किया है और, नाम के उच्चारण के साथ ही उसका मानसिक चित्र सामने आता है। फलतः वैसी मानसिक प्रतिक्रिया होती है जैसी वस्तु के प्रत्यक्ष रहने पर होती; किन्तु जिसके मानस में नाम एवं वस्तु का सामञ्जस्य स्थापित नहीं हुआ है, उसमें तद्विपयक भाव-विधान की संभावना नहीं। संभव है, अनभिज्ञता के कारण आश्चर्य, विस्मय, जिज्ञासा आदि भाव जगें। प्रिया की आकृति प्रथम-प्रथम मानसिक क्रिया को जागरित करने में समर्थ होती है। कारण, चाक्षुप मूर्त्त-विधान द्वारा रूप का प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ज्ञान होता है। क्रमशः क्षीण प्रकाश में उसकी वाणी अथवा उसके पद-चाप द्वारा भी उस प्रकार की अनुभूति होगी और बाद में चलकर केवल नामोच्चारण सुनकर विशिष्ट भावना जगेगी, जो किसी और नाम के कारण नहीं

इसकी व्याख्या इसी नाम से प्रारम्भ आत्मसंस्कारात्मक कल्पना के अभाव में नहीं जगती है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान मानस पर इस प्रकार की छाप छोड़ जाते हैं, जो प्रत्यक्ष के कारण पहचानने में सहायक होते हैं।

पूर्व-परिचित वस्तुओं के स्वरूप-चित्रण अथवा वर्णन देखकर सहसा लोगों को भ्रम होता है कि यह कलाकार अथवा कवि की निजी सृष्टि है, जिसका कोई आधार नहीं। इस विषय की मीमांसा आगे की जायगी, यहाँ इतना निर्देश करना ही अलम् होगा कि कल्पना का उद्गम प्रत्यक्ष वस्तुओं के निरीक्षण द्वारा रूप-विधान से है। किन्तु इसकी सत्ता और इसके स्वरूप में अन्तर है। कल्पना के द्वारा अप्रत्यक्ष वस्तुओं का रूप मानस में सहसा मूर्त-रूप ग्रहण करता है; वस्तु का मूर्त रूप रहता है, किन्तु प्रत्यक्ष नहीं, यही अंतर है। इस अर्थ में कविता मानस-प्रतिमा-निर्माण करती है। कल्पना का, अतः, इन अर्थों में प्रयोग आलोचना एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में होता है।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान को मूर्त रूप देने के काल-क्रम से इसके दो स्पष्ट स्वरूप हो जाते हैं। दृश्यगत प्रतिमा को मानस-चक्षुओं के सामने लाना—इस स्पष्ट मूर्त-विधान का अर्थ साधारण रूप से स्मरण-शक्ति समझना चाहिए। ऐसी अवस्था में यह स्वीकार कर लिया जाता है कि वस्तु के प्रत्यक्ष दर्शन के साथ ही कलाकार उसका मूर्त-स्वरूप उपस्थित करने लगता है। काल-क्रम से प्रत्यक्षीकरण की शीघ्रता के कारण ऐसे मूर्त-विधान अधिक प्रभावशाली हो पाते हैं। साधारणतया यह विश्वास कर लिया जाता है कि ऐसे मूर्त-विधान में सजीवता और मूर्तिमत्ता अधिक होती है। किन्तु, ऐसे चित्र अस्पष्ट, पर स्थूल रेखाओं में सीमित, अव्यापक एवं वस्तु की प्रतिकृति-स्वरूप होते हैं, एवं इच्छापूर्वक इनमें परिवर्त्तन नही किया जा सकता। प्रतिकृति में काव्यत्व का विधान नहीं, बल्कि वस्तु अथवा भावना के नवनिर्माण में कल्पना और काव्य का सामञ्जस्य है, अतः ऐसी अवस्था में इस प्रकार के उत्तर-मूर्त्त-विधान (After-images) में काव्यत्व से अधिक कृत्रिमता का रंग है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि कलाकार कूची अथवा कलम लेकर बैठ जाता है और दृश्य-परिवर्त्तन के अनुसार अपनी कूची फेरता अथवा कलम चलाता है। काव्य में इस प्रकार के चित्रों का अभाव नही।

* And as imagination bodies forth
The form of things unknown, the poet's pen
Turns them to shape, and gives to airy nothing
A local habitation, and a name.

—Shakespeare

अधिक वस्तुवादी अथवा प्रकृति का तथ्यगत चित्र उतारनेवाली कविता में ऐसे चित्रों का मोह अधिक दीख पड़ता है—

पपीहों की वह पीन पुकार
निर्झरों का भारी झरझर;
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गम्भीर घहर;
बिन्दुओं की छनती छनकार
दादुरों के वे दुहरे स्वर। —'पंत'

अनुप्रासगत स्वरमैत्रीजन्य संगीत-लालित्य और माधुर्य से इसे विच्छिन्न कर देखें तो उत्तर-मूर्त्त-विधान का सफल चित्र इन पंक्तियों में मिलेगा। चित्र की प्रत्येक रेखा स्पष्ट और स्थूल है, किन्तु चित्रों का वास्तविक समन्वित चित्र स्पष्ट रूप में उपस्थित नहीं होता। प्रत्येक चित्र अलग और स्वतंत्र रूप में दीख पड़ता है। चित्रकार की दृष्टि दृश्य के विशेष अंगों पर न होकर समाहित रूप से सम्पूर्ण चित्र पर पड़ती है, अन्यथा चित्र विविध रंगों अथवा आकृतियों का संघटन तो उपस्थित करता है, किन्तु मेल नहीं। पंत की इन पंक्तियों में चाक्षुष बिम्बों के समाहित चित्र के स्थान में श्राव्य बिम्बों की प्रधानता है जिसकी चर्चा यथास्थान आगे की जायगी। चित्रों में प्रभविष्णुता कलाकार के रागात्मक आवेश के सामंजस्य से आती है, अन्यथा कुछ चित्र उपस्थित कर ही उसे संतोष ग्रहण करना पड़ता है।

काव्यगत भावुकता के अर्थ में भी 'कल्पना' शब्द का प्रयोग होता है। विविध परिस्थितियों में अपने-आपको रखकर कवि उनके अनुरूप भाव उपस्थित करता है। कवि और लेखक में इस भावुकता के प्रति अधिक मोह देखा जाता है। पर्याप्त मात्रा में कल्पना एवं सहानुभूति का अभाव कहकर आलोचक की खिल्ली उड़ाने से भी वह नहीं चूकता। भावुकता का संबंध संवेदनशीलता से है। कवि को पात्र की परिस्थितियों में अपने-आपको रखकर उनकी रागात्मक प्रवृत्तियों के उद्घाटन में कुछ सीमा तक कल्पना की आवश्यकता होती है; किन्तु केवल वह कल्पना ही नहीं। कल्पना का क्षेत्र रागात्मक आवेश की सीमा का स्पर्शमात्र करता है—उसे उत्तेजना, तीव्रता अथवा आवेश देता है; किन्तु भावुकता-पूर्ण वर्णन के लिए कल्पना आवश्यक नहीं।

"पुर तें निकसी रघुबीर-वधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की पुट सूखि गये मधुराधर द्वै॥
फिर पूछति है चलनोऽब कितो पिय पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥

"जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखौ पिय! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े॥
तुलसी रघुबीर प्रिया स्रम जानि कै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो पुलक्यो तनु, बारि बिलोचन बाढ़े॥"

तुलसी की इन पंक्तियों में भावुकता प्रचुर मात्रा में है; किन्तु कल्पना का जो वास्तविक रूप है, उसका दर्शन नहीं होता, बल्कि यह स्वाभाविक वर्णन है। इस स्वाभाविकता-पूर्ण वर्णन के लिए कवि को अनुभूति का अवलम्ब लेना पड़ा है; किन्तु इसमें उत्कर्ष-पूर्ण-विधान नहीं। कारण, स्पष्टता की सीमा मिटती नहीं। भावुक-मूर्त-विधान का कुछ आवेश यहाँ पा रहा है।

अलंकार-विधान के लिए भी कल्पना की सदा अपेक्षा नहीं। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के लिए कल्पना सदा अपेक्षित नहीं। रूढ़िगत और परम्परा-भुक्त उपमान का ग्रहण करने में कवि का कल्पना-चमत्कार नहीं। रूपकातिशयोक्ति के लिए भी इसे स्वीकार किया जा सकता है—यद्यपि नवीन रूप-विधान के उत्कर्ष में ही कल्पना का उदात्त स्वरूप अभिव्यक्त होता है।

'जल रहा तुम्हारा रूप-दीप
भर रहा विश्व-तन की बाती
जल रहा तुम्हारा रूप-दीप।'

—'नेपाली' (विश्वसुन्दरी)

रूप-दीप के रूपकत्व में कवि-परम्परा का आग्रह है। रूप के प्रकाश के मूल में स्वीकृत परम्परा है, अन्यथा और कोई हेतु नहीं। इन अलंकारों का कार्य काव्य में जान फूंकना नहीं, बल्कि प्रभाव भरना मात्र है। काव्य के लिए इनकी अनिवार्यता शास्त्रकारों ने स्वीकृत भी नहीं की है। यह अनुमान किया जा सकता है कि अलंकारों के नव-उपमान-विधान में कल्पना की अपेक्षा होगी। बहुत-कम ऐसे रूपक-उपमादि मिलेंगे जिनका तर्क-सम्मत आधार खड़ा किया जा सके। चन्द्रमा को नख में देखनेवालों में कल्पना की भावना कम और बुद्धि-विभ्रम का आधिक्य अवश्य है। अलंकार-विधान द्वारा वस्तुतः रागात्मिका वृत्ति की उत्तेजना के अभाव को पूर्ण करने का प्रयास कवि करता है। कारण, इसे ही वह संवेदनशीलता जाग्रत करने का माध्यम मान बैठता है।

वैज्ञानिक अन्वेषण करनेवाली बुद्धि भी कल्पनात्मक क्षमता रखती है, किन्तु इसके संबंध में इतना स्मरण रखना होगा कि मूल में कल्पना का सूक्ष्म आधार लेकर चलनेवाले वैज्ञानिक की चेतना प्रयोगात्मक है। अतिकल्पनाक्रांत 'रोमांस'-वादी कहानियों अथवा जासूसी कथाओं में भी आविष्कार की भावना रहती

है। पागलों में भी स्वच्छन्द कल्पना का अभाव नहीं। वैज्ञानिक कल्पना को वस्तुओं एवं तज्जन्य अनुभूतियों में नियम-बद्धता स्वीकार कर चलना पड़ता है, अन्यथा कोई नवीन आविष्कार नहीं हो सकता। कल्पना शिल्प-कला की अनुयायिनी बनकर ही यहाँ रह सकती है।

इस साधारण वर्णन के साथ कल्पना की प्रकृत भूमि पर हम आते हैं, जिसे रचनात्मक कल्पना कहा जाता है। इसके द्वारा कलाकार वस्तुओं के वैधर्म्य को दूर कर उनमें संतुलन उपस्थित करता है एवं इस प्रकार संतुलित भावना या वस्तु प्रकृत वस्तुओं अथवा भावनाओं से विभिन्न और स्वतंत्र रूप-प्रकृतिवाली दीख पड़ती है। वह प्रतिदिन दीख पड़नेवाली वस्तु को लेता है और अन्य किसी वस्तु का उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर देता है एवं उसी प्रकार भावना का अन्य भावना के साथ मनुष्य की इन्द्रिय-सम्बन्धी शक्ति सीमित और संकुचित है; किन्तु मानसिक शक्ति इसकी अपेक्षा अपरिमित और विस्तृत। कल्पना पूर्व अनुभवों एवं निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान का आधार छोड़ नही सकती, अतः कल्पना निराधार एवं 'व्योम-कुंजों की परी' है, ऐसा समझना भ्रमात्मक है। पूर्व-निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान के अभाव में, न तो जन्मांध इन्द्रधनुप के रंगों की कल्पना कर सकता है और न जन्म का बहरा संगीत के सौन्दर्य की। यह बात दूसरी है कि कुछ सुनी-सुनाई बातों के आधार पर इन्द्रधनुपों के रंगों का उल्लेख वह करे। पूर्व अनुभवों को सुरक्षित रखना और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें प्रकट करना स्मरण-शक्ति का कार्य और कल्पना का आधार है। साहचर्य के नियमों के कारण मानसगत बिम्बों में परिवर्त्तन, परिवर्द्धन और संस्कार संभव हैं तथा वस्तु-विशेप इनके कारण नवीन रूप ग्रहण कर लेता है। जिनका चिरसाहचर्य संबंध है, उनके संबंधज्ञान का त्याग भी कल्पना की सीमा में आता है। हिम और शीतलता, अग्नि तथा ज्वाला का चिरसाहचर्य संबंध है। कवि की कल्पना जब 'शीतल दाह' की चर्चा करती है, वह हिम की शीतलता एवं अग्नि के दाह को स्थानांतरित करती है*। कारयित्री अथवा

* The construction made by some imaginative writers is so novel and gigantic that it is sometimes difficult to believe that they owe their all parts to the experience of the maker of them. The novelty consists in the re-arrangement; and this takes place in obedience to some governing idea or purpose.
—*Benjamin Dumville : The Fundamentals of Psychology.*

स्वाभाविक कल्पना का यही आधार है और काव्य में इसका ही महत्त्व-पूर्ण स्थान है—

दृगजल से सित मसि है अक्षय,
मसि-प्याली झरते तारक-द्वय;
पल-पल के उड़ते पृष्ठों पर
सुधि से लिख श्वासों के अक्षर—
मैं अपने ही बेसुधपन में
लिखती हूँ, कुछ लिख जाती हूँ। —'महादेवी'

कवि के मानस-चक्षुओं के सामने दो चित्र हैं; एक ओर महादेवी देखती हैं कि कागज के पन्नों पर मनुष्य अपने ज्ञान-चेतन, अर्द्ध-चेतन अथवा अचेतन रूप में लिखता है। अचेतन रूप में लिखने का अर्थ है कि अचेतन मानस मानसिक ग्रन्थियों एवं अनेक अज्ञात कर्मों का निवासक है और उनका प्रभाव विचार-धारा पर अवश्य पड़ता है। काव्य-कला चेतन क्रिया है अथवा अचेतन मानसिक क्रिया का फल, मैं इस प्रश्न पर यहाँ उतरना नहीं चाहता, इसकी विवेचना किसी स्वतंत्र निबंध का विषय बनेगी। दूसरा चित्र उनके सामने है—'आँखें किसी की सुधि में भर भर रही हैं और उसाँसें उन आँसुओं की सूचना देती हैं।' इनके साथ पृष्ठों के उड़ने का छोटा-सा और चित्र है। अपने स्थान पर सभी चित्र स्वाभाविक हैं। कवि इन सभी चित्रों का संश्लिष्ट रूप यहाँ सामने उपस्थित करता है। 'मसि' और 'दृगजल' का संश्लेष है, किन्तु उनके विश्लेष के कारण 'सित' का विधान है। 'मसि-प्याली' और 'तारक-द्वय' के रूपकत्व को एकसूत्रता देनेवाला 'झरना' है, जो 'मसि-प्याली' के संबंध से अतिकल्पना का आग्रह प्रदर्शित करता है। एक तो मसि की प्यालियों द्वारा कवि के मानस-चक्षु के समक्ष चित्रकार की प्यालियों का चित्र है और 'द्वय' प्यालियों द्वारा आधुनिक 'दस्तियों' का चित्र सामने आता है, फिर आँखें झरती हैं, कुछ मसि-प्यालियाँ नहीं, अतः इनमे दूरान्वित लाक्षणिकता का आरोप स्वीकार करना पड़ेगा। उत्प्रेक्षा में 'जनु', 'मानों' आदि के प्रयोग द्वारा असंभव की संभवनीयता का मार्जन हो जाता है। अक्षर—यहाँ शब्द समझना चाहिए—भावनाओं का प्रतीकत्व करते हैं। साँसें अन्तर की भावना प्रकट करती हैं, सुधि की याद दिलाती हैं; ऐसी अवस्था में श्वासों और अक्षर का समन्वित चित्र है। अलंकारवादी कहेगे, रूपकगर्भित उपमा-विधान ही सौन्दर्य का कारण है, अन्यथा उपमा की ध्वनि। उपमा-रूपक-विधान मे जहाँ एक ओर परम्परा के निर्वाह का आग्रह रहता है, वहाँ उनके बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव-दर्शन के लिए व्याख्या का अभाव। कवि अपने चित्रों में जब व्याख्या भी उपस्थित करता है, मानना पड़ेगा कि उसका

मोह अलंकार-विधानमात्र पर नहीं, बल्कि भावनाओं के मूर्त्त-विधान पर है और जो कल्पना का विषय है।

कल्पना की तीन कोटियाँ हैं—बौद्धिक, सौन्दर्य-विषयक और व्यावहारिक। बुद्धि के आधार-स्वरूप जब कल्पना आती है, वह बौद्धिक-चेतना-सम्पन्न है। बौद्धिक कल्पना विचार अथवा अन्वेषण का आधार उपस्थित करती है और इस प्रकार विकल्प की जन्मदात्री है। यही वैज्ञानिकों के काम आती है। विकल्प का आभास देकर वह कल्पना तर्क का रूप ग्रहण कर बौद्धिक हो जाती है। सौन्दर्य-निर्माण, सौन्दर्य-बोध एवं सौन्दर्यानुभूति उत्पन्न करनेवाली कल्पना ही सौन्दर्य-विषयक है। कला की सफलता सौन्दर्य और उसकी अनुभूति की अभिव्यक्ति में है। सौन्दर्यानुभूति कला के प्राण है और अभिव्यक्ति उसका कलेवर, अतः कलाकार इसी कल्पना का पुजारी है, उपासक है। और, तात्त्विक दृष्टि से इसे ही कारयित्री कल्पना अथवा सहजा प्रतिभा कहना उचित होगा। सृष्टि-तत्त्वों का विभिन्न मिश्रण जिस प्रकार रूप-विधान है, उसी प्रकार कल्पना की कारयित्री शक्ति विभिन्न इन्द्रियसम्बन्धी मूर्त्त-विधान के मेल द्वारा नव-निर्माण करने में प्रकट होती है। कला और कल्पना के संबंध-विचार में इसी कल्पना का विचार होना चाहिए। व्यावहारिक कल्पना उपयोगी कला का आधार है—यद्यपि 'उपयोगी कला' शब्द भ्रामक है और इसकी अर्थ-सीमा का विस्तार होना चाहिए। कल-पुर्जो अथवा उपयोगी औद्योगिक कला-वस्तु के निर्माण के लिए इसकी अपेक्षा होती है—मिल के मैनेजर, इंजीनियर, मिस्त्री, क्रिकेट के नायक, सेनापति आदि के लिए इसकी अपेक्षा स्वयं स्वीकृत है। यहाँ इतना और स्मरण रखना होगा कि परिस्थिति-विशेष में एक ही कल्पना भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण कर सकती है।

सौन्दर्य-गत बिम्ब-विधायिका कल्पना को कला का आधार स्वीकार किया गया है। विभिन्न इन्द्रिय द्वारा बिम्ब-ग्रहण और प्रत्यक्षीकरण होने के कारण इस कल्पना के रूप में अन्तर आता है। चक्षुरिन्द्रिय को प्रभावित करनेवाले बिम्बों का निर्माण करनेवाली कल्पना चाक्षुप होगी। इस कल्पना द्वारा निर्मित बिम्बों में रूप-विधान अधिक होगा। काव्य में इस प्रकार के शुद्ध रूप-विधान करनेवाले बिम्बों के दर्शन अधिक नहीं होते, इनके साथ दूसरे प्रकार के बिम्बों का मिश्रण भी हो जाता है। काव्य में चित्र और संगीत का संतुलित रूप अभिव्यक्त होता है अर्थात् चाक्षुप बिम्बों का चित्रण शब्दों द्वारा होता है, अतः चाक्षप बिम्बों के साथ श्राव्य बिम्बों का संतुलन हो जाता है। स्पर्श-गन्ध आदि के भी बिम्ब संभव हैं, अंधों में इन बिम्बों के ग्रहण की अद्भुत क्षमता देखी जाती है। प्रत्येक वस्तु की—नगर, गाँव, सड़क, वन-प्रान्त, उद्यान और व्यक्ति की—अपनी भिन्न गन्ध है और प्रत्येक

वस्तु अपनी सत्ता के कारण पहचानी जा सकती है। फ्रेञ्च लेखक जोला (Zola) में इसकी शक्ति विशिष्ट थी। चाक्षुष रूप-विधान का चित्र नीचे दिया जा रहा है, यद्यपि नाद-बिम्बों का प्रभाव भी कम नहीं—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥—'कालिदास' (शाकुन्तल)

["वल्कल इस रमणी के शरीर-योग्य न होने पर भी उसके द्वारा इसके शरीर की शोभा ही हो रही है; क्योंकि कमलपुष्प सेवार से घिरा हुआ होने पर भी रमणीय ही होता है और 'तिल' (धब्बा) काला रहने पर भी चन्द्रमण्डल की कान्ति ही बढ़ाता है। वैसे ही यह सुन्दरी वल्कल में भी अधिक मनोहारिणी दीख पड़ती है। सुन्दर आकृतिवालों के लिए सभी वस्तुएँ अलंकार हो जाती हैं!"]

कालिदास की उपमा (उपमा कालिदासस्य) प्रसिद्ध है; किन्तु वर्णन का महत्त्व उपमा की योग्यता के कारण नहीं, बल्कि तदनुरूप मूर्त्त-विधान में है जो कल्पनाश्रित है। 'सरसिज''रम्यम्' के साथ ही शैवाल से घिरे कमल का चित्र आँखों के सामने आता है, इसी प्रकार अन्य रूप भी। जिसने शैवाल से घिरे कमल को नहीं देखा है, उसके लिए यह वर्णन कोई चित्र उपस्थित नहीं करता। पाठक में भी कल्पना होनी चाहिए, और बहुत संभव है कि शैवाल से घिरे कमल को न देखने पर भी, शैवाल और कमल अथवा कुमुद की स्वतंत्र स्थितियों का एकीकरण कर, शैवाल से घिरे कमल का चित्र वह मानस-चक्षुओं के सामने ला खड़ा करे—अतः कवि की सफलता इस प्रकार के मूर्त्त-विधान में है। उपमा की दृष्टि से देखने पर तो 'मलिन''''तनोति' में निर्वाह उत्तम नहीं कहा जायगा—एक तो चन्द्रमा के इस वर्णन मे रूढ़िगत परम्परा का पालन है और दूसरे वल्कल से जिस प्रकार सुन्दरी घिरी है, उसी प्रकार कलंक से चन्द्रमा नहीं। चन्द्रमा की मलिनता अन्तरस्थ है और वल्कल ऊपर से धारण किया गया है, अतः प्रभविष्णुता केवल सादृश्य अथवा सारूप्य-विधान के कारण नहीं, बल्कि समान प्रभाव के कारण है, जो चाक्षुष मूर्त्त-विधान द्वारा महत्त्वपूर्ण हो उठा है।

खीच ऐंचीला भ्रू-सुरचाप, शैल की सुधि यों बारंबार।
हिला हरियाली का सुदुकूल, झुला झरनों का झिलमिल हार ॥
जलद-पट से दिखला मुखचन्द्र, पलक पलपल चपला का प्यार।
भग्न उर पर भूधर-सा हाय, सुमुखि धर देती है साकार ॥ —'पंत'.

अभिधा-वैचित्र्यगत रूपक इसमें साहित्य-शास्त्री मानता है। कल्पना के

नव-विधान की जो सीमा उपर्युक्त पंक्तियों में निर्धारित की गई है, उसीके अन्तर्गत यह चित्र आता है। 'भ्रू-सुरचाप' के रूपकत्व में 'ऐंचीलापन' की परम्परा है। 'शैल की सुधि' खींचने में जो रूपकत्व और चमत्कार है वह अलंकार-विधान के कारण नहीं, बल्कि कल्पना की विशदता के कारण है। 'भग्न उर पर भूधर-सा' में श्राव्य मूर्त्त-विधान का प्रभाव अधिक है। इस प्रकार के रूप-विधान में भी कवि विभिन्न चित्रों का एक ही पट-भूमि पर अंकित करता है। पाठक की कठिनाई विभिन्न चित्रों के दूरान्वित समन्वय के कारण है। कारण, दोनों के सामान्य संबंध की व्याख्या कवि नहीं करता और यदि वह व्याख्या करने लगे तो काव्यत्व नष्ट हो उठेगा।

कहा जाता है कि मिल्टन की कविता समझने के लिए मिल्टन होने की आवश्यकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि मिल्टन की कविता मिल्टन के सिवा और कोई अन्य व्यक्ति नहीं समझ सकता, बल्कि यह है कि जिस प्रकार की उदात्त कल्पना उसके 'पाराडाइज लास्ट' में है, उसी प्रकार की कल्पना पाठक में होनी चाहिए। काव्य के संबंध में इसीलिए कहा जाता है—"यही कारण है कि यदि किसी कविता के अर्थ जानने पर हम जोर दें तो केवल यही उत्तर होगा कि इसका अर्थ यही है।" * कवि आलोचक को सदा ऐसा उपदेश देता आया है। एक कवि ने लिखा है—"प्रेमाधिक्य में कवि जो निर्माण करता है, आलोचक उसे नष्ट कर देता है।" कीट्स ने 'लेमिया'-शीर्षक कविता में लिखा है—"क्या ज्ञान के स्पर्शमात्र से सौन्दर्य उड़ नहीं जाता? दर्शन (ज्ञान) देवदूत के पर कतर देगा।"

......Do not all charms fly
At the touch of cold Philosophy?
....
Philosophy will clip an Angel's wings.'

एक और कवि फरमाते हैं—"कोई कार्य सुलभ नहीं, अतः अन्य मनुष्यों की अपेक्षा कवियों पर अधिक दया करो।"

कवि आलोचक में कल्पना का अभाव मान बैठता है। कविता करने के लिए जिस प्रकार सहजा प्रतिभा की आवश्यकता है, उसी प्रकार काव्य की अर्थ-भूमि पर पहुँचने के लिए पाठक अथवा आलोचक में भी ग्रहणशीला (Receptive)

* This is also the reason why if we insist on asking for the meaning of such a poem we can only be answered, 'It means itself'.

कल्पना की। इसके लिए भी पूर्वानुभूति एवं निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान की अपेक्षा होगी। जिसने कभी विरह का अनुभव नहीं किया है—चाहे वह विरह किसी का हो—उसके लिए आँसुओं का समुद्र बहाकर भी उर्मिला उपेक्षिता ही रहेगी। ग्रहणशीला कल्पना एक ओर जहाँ काव्य-चित्र हृदयंगम करा सकती है, वहाँ व्याख्यात्मक भी हो सकती है—यद्यपि दोनों को एक मानने का आग्रह कुछ मनोवैज्ञानिकों में देखा जाता है। सहृदय सामाजिक और आलोचक में, कल्पना के इसी रूप के कारण, अन्तर है। आलोचक चित्रों को एक-दूसरे से अलग कर देखने का इच्छुक है। 'मेघदूत' में कालिदास ने मेघ द्वारा संदेश भेजा है। रामगिरि से लेकर अलका तक के वायु-मार्ग का वर्णन कर विरहिणी प्रिया को संदेश दिया है। मार्ग से कवि परिचित है, वह यहाँ तक जानता है कि उज्जयिनी उस मार्ग में नही पड़ती, अतः मेघ से वह कहता है—

वक्रः पंथा यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्संगप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि। *

संदेशवाहक को मार्ग बतलाना, उससे संदेश कहना, स्वाभाविक ही है। कवि-कल्पना मेघ को संदेशवाहक के रूप मे लेती है। कवि अभीप्सित दिशा में उड़नेवाले मेघों को देख संदेश भेजने की कल्पना करता है। कला की कृत्रिमता प्राकृतिक होने का आभास देती है और संभाव्य-असंभाव्य का विचार छोड़ रागात्मक अनुभूति तीव्र करती है। कल्पना इसी कार्य के लिए आती है। 'रेलिया सवतिया पियहि ले के भागी' में वही कल्पना है, किन्तु कवि-कृत अकृत्रिमताभास लेकर नहीं, बल्कि स्वाभाविकता से पूर्ण। कल्पना-जन्य रागात्मक आवेश और उद्वेग के लिए पाठक मे भी ग्रहणशीला कल्पना होनी चाहिए। 'मेघदूत की सजल कल्पना' को असम्भाव्य कहकर छोड़नेवाले पाठकों को कल्पना-हीन समझा जाना ही चाहिए। उसी प्रकार आलोचक में व्याख्यात्मक कल्पना की अपेक्षा होगी, जिससे कवि की भावुकता, कल्पना, सौन्दर्य-चित्र एवं संगीत का मर्म पाठकों के समक्ष रखा जा सके।

* "यद्यपि उत्तर चलते तुझको उज्जयिनी जाने में फेर,
उसके महलों का मन रखने में तथापि मत करना देर।
चल चपला से चकित चुटीले नागरियों के बाँके नैन,
यदि न उलझकर तुझे लुभावें समझ जन्म वंचित बेचैन।"

—आचार्य केशवप्रसाद मिश्र

आलोचना में वैयक्तिक रुचि का अभाव माननेवाले इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को भूल जाते हैं, इसके संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि वह रुचि परिष्कृत होती है और सौन्दर्य-सम्बन्धी भावना उसका नियमन करती है।

कल्पना की इस संक्षिप्त रूप-विवेचना के पश्चात् काव्य अथच कला और इसके संबंध की विवेचना अपेक्षित है। कला जीवन एवं उसके तत्त्वों और रूपों का सौन्दर्यगत चित्रण है। 'आइडियलिज्म' का हिन्दी-अनुवाद 'आदर्शवाद' न होकर 'भावात्मक' होना चाहिए। जिसे लोग आदर्शवाद कहते हैं, उसका संबंध भावात्मकता मे है। कवि अथवा कलाकार जीवन के उन्हीं तत्वों अथवा रूप को लेता है, जो उसमें भावात्मक आवेश भरते हैं। इस प्रकार 'कला' जीवन का यथातथ्य चित्रण हो नहीं सकती। ऐसी अवस्था में आदर्शवाद और यथार्थ 'टेकनीक' के वाह्य उपकरणमात्र हैं। अपने विचार, अनुभूति, आकांक्षा और स्वप्न को अभिव्यक्त करने के लिए कलाकार किसी-न-किसी माध्यम का आधार ग्रहण करता है। माध्यम जहाँ उसकी भावनाओं को मूर्त्त रूप देना है वहाँ अभिव्यक्ति की सीमाएँ भी निर्धारित कर देता है। कल्पना माध्यम की विवशताओं के कारण विभिन्न रूप ग्रहण करती है। चित्रकार की कल्पना जहाँ चाक्षुप मूर्त्त-विधान उपस्थित करने में है, वहाँ कवि की कल्पना चाक्षुप एवं श्राव्य दोनों प्रकार के संतुलित मूर्त्त-विधान में। माध्यम की इस अपेक्षाकृत सूक्ष्मता के कारण ही संगीतकला में श्रेष्ठता है, यद्यपि इसके कारण भावोन्मेष की परिधि संकुचित हो उठती है और काव्य को प्रधानता मिलती है।

सौन्दर्य-विधान के इस रूप में कल्पना काव्य को दो रूप से प्रभावित करती है। एक ओर तो वह कृत्रिमता को प्राकृत रूप देती है, असंभाव्य को संभाव्य की सीमा में लाती है और दूसरी ओर सौन्दर्य की भावना को उन्मेष देती है। कवित्व का आनन्द इसीमें है और इसे मनोवैज्ञानिक (make-believe) कहते हैं। कल्पना और आविष्कार में अन्तर है, यद्यपि आविष्कार के बीज-रूप में कल्पना का सन्निवेश है। कथानक-निर्माण के वैचित्र्य में आविष्कारक बुद्धि का पूर्ण उपयोग करने पर भी चरित्र-निर्माण में कल्पना का अभाव सम्भव है। चरित्र लेखक की इच्छा से परिचालित यंत्र की भाँति हो सकते हैं, वातावरण कृत्रिम और बोझिल हो सकता है। इस प्रकार की कथा पढ़ने पर कोई मानसिक उत्तेजना नहीं होती। आस्कर-वाइल्ड की इस 'झूठ बोलने की कला' (The art of lying) में प्राण, उत्तेजना, जागरण और प्रेरणा के उन्मेष के लिए कल्पना एवं सहजा प्रतिभा की अपेक्षा होती है; किन्तु इनके साथ ही सौन्दर्यानुभूति हो, यह इसकी शर्त्त है और इसे ही आलोचक अपनी भाषा में कलात्मक आग्रह कहता

है। इस शक्ति द्वारा ही चित्रों में भावात्मकता, विशिष्टता एवं सांकेतिकता आती है—और कलात्मकता एवं सौन्दर्य भी।

पर्ण-कुञ्जों में न मर्मर-गान, सो गया थककर शिथिल पवमान
अब न जल पर रश्मि बिम्बित लाल, मूँद उर में स्वप्न सोया ताल
सामने द्रुमराजि तमसाकार, बोलते तम में विहग दो-चार
झींगुरों में रोर राग के लीन, बोलते ज्यों एकरव अस्पष्ट अर्थविहीन
दूर-श्रुत अस्फुट कहीं की तान, बोलते मानों तिमिर के प्राण।

—'दिनकर' [सन्ध्या]

यद्यपि 'एक गहरी शान्ति चारों ओर' और शेक्सपीयर के—

When the sweet wind did gently kiss the trees
And they did make no noise. *

—जैसी गंभीर शान्ति का निराकरण 'बोलते'''विहीन' में आकर कवि कर देता है, तो भी संध्या की उदासीनता के साथ सामञ्जस्य उपस्थित कर वह—'आसुओं की दो कनी इस साँझ का वरदान, अश्रु के दो बिन्दु पिछली प्रीति की पहचान' की अर्थ-भूमि पर ला उपस्थित करता है और पाठक को विश्वास हो उठता है कि विवसना संध्या की धूमिल छाया जीवन की असफलता, अर्थ-विहीनता एवं विवशता का करुण चित्र है। संध्या का यह बौद्धिक नहीं, बल्कि भावात्मक चित्र है और तदनुरूप भावना जागरित कर सकने की क्षमता—संवेदनशीलता—में ही कवि की सफलता है। इस सफलता का मूल सहजा प्रतिभा द्वारा भावनाओं के साधारणीकरण मे है, अथवा मनोवैज्ञानिकों की भाषा में कहेंगे कि पाठक में कल्पना द्वारा विश्वास उत्पन्न कर सकने की क्षमता में है। संध्या के इस वर्णन में मूर्त्त-विधान और सांकेतिकता है। कल्पना-गत सांकेतिकता का आग्रह महादेवी में अधिक है—'शलभ, मैं शापमय वर हूँ, किसी का दीप निष्ठुर हूँ।' कुल दो पंक्तियों में ही महादेवी पूरी कहानी कह देता हैं। महादेवी के गीतों की प्रथम पंक्तियों मे इसीलिए अधिक उन्मेष है। बाद की पंक्तियों में तो वह यथासम्भव उसीकी व्याख्या उपस्थित करती है। वेदना-विदग्ध एवं अनुपम रहस्य-दीप्त व्यक्तित्व की गहरी छाप इन पंक्तियों में है। इस वेदना की अनुभूति को रवीन्द्रनाथ के 'शाहजहाँ' की भाँति मूर्त्त रूप देने के लिए ताजमहल-निर्माण की आवश्यकता नही; बल्कि जिसने इन निष्ठुर प्राणों में ज्वाला भड़का दी अथवा

* जब मधुर समीर वृक्षों के कोमल चुम्बन लेता है और वे किसी प्रकार का शब्द नहीं करते।

जिसके निष्ठुर हाथों ने प्राणों में आग जला दी, उसीके वरदान-रूप में शापमय जीवन है। जलन शाप होकर भी अक्षय्य वरदान है। कारण, यही तो व्यक्तित्व है, वैयक्तिकता है। वेदना-विदग्धता की सांकेतिकता शैली के चित्रों की भाँति है। स्पष्ट रेखा-बद्धता 'निराला' के इस चित्र में है—

मधुऋतु रात, मधर अधरों की पी मधु सुध-बुध खो ली,
खुले अलक, मुँद गये पलक-दल, श्रम-सुख की हद हो ली—
बनी रति की छवि भोली।

—'गीतिका' (४१)

भावना की चित्रमत्ता के साथ तीव्रता और भावोन्मेष द्वारा कलात्मक सौन्दर्य अंकित करना कल्पना का कार्य है। चाक्षुष, श्राव्य आदि बिम्बों द्वारा भाव-प्रत्यक्षीकरण से इसे भिन्न समझना चाहिए। अलंकार के नव-विधान में इसका आंशिक रूप प्रकट होता है; किन्तु पूर्ण रूप समान-प्रभाव उत्पन्न करने में है। केवल अलंकारत्व की रक्षा में प्रयत्नशील उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि के प्रयोग में इसका माधुर्य नष्ट हो जाता है। किन्तु प्रभाव की तीव्रता, गंभीरता और स्थायित्व अंकित करने के प्रयास में अलंकार-विधान कल्पना का अंग बन अभिनव सौन्दर्य की सृष्टि करता है। छायावादी कविताओं में कल्पना के इस रूप का विशद चित्र उपस्थित किया गया है। काव्य के आधार-रूप में कवि साधारण-से-साधारण वस्तु लेता है और उसके विशिष्ट रूप को पाठक के समक्ष उपस्थित करता है, वैसे विषयों में तीव्रता लाने के लिए कल्पना का सहयोग अपेक्षित होता है। वस्तु अपनी प्राकृतिक अवस्था में कोई प्रभाव न डाल सकने पर भी कला के माध्यम से उपस्थित होकर प्रभाव उत्पन्न करती है, और पाठक को भ्रम होने लगता है कि उसने वैसी वस्तु देखी अथवा सुनी तो नहीं। कारण, जीवन के सामान्य रूप से सम्बद्ध होने के कारण उसकी विशिष्टता वह देख पाता नहीं। अतः कल्पना का सहारा पाकर अनुभूति नवीनता, ताजगी और गतिमूलकता देती है।

कल्पना का स्वप्न और दिवास्वप्न के साथ यथाक्रम संबंध दिखाने की चेष्टा मनस्तत्त्व-विश्लेषण-शास्त्र के प्रवर्त्तक 'फ्रायड' ने की है। इस नवीन शास्त्र के अनुसार स्वप्न में अतृप्त वासनाओं की तृप्ति होती है, किन्तु यह वासना-पूर्त्ति सीधी और सरल गति से नहीं होती। सामाजिक, नैतिक धारणाएँ और संस्कार मूलगत भावना की परितुष्टि में बाधक हैं, उसी प्रकार मानसिक संतुष्टि के क्षेत्र में भी अवरोधक का सामना करना पड़ता है। फलतः स्वप्न-चेतना आकुञ्चन, रूपान्तरकरण, आरोपण, विस्तारण एवं मूर्त्तीकरण का प्रयोग करती है और इस

रूप में स्वप्न-गत भावनाओं और दबी वासनाओं का विश्लेषण साधारण मनुष्य के लिए सम्भव नहीं होता। प्राचीन काल में स्वप्नों का महत्त्व भविष्यवाणी के रूप में प्रतिष्ठित था। स्वप्न-विज्ञान को मनस्तत्त्व-विश्लेषण-शास्त्र ने अधिक प्रधानता दी। कारण, इसके द्वारा ही अचेतन मानस-प्रदेश का द्वार खुल पाता है। वासना-गत स्थिति के कारण स्वप्न और कला पर विचार किया है। कल्पना में भी प्रत्यक्ष-ज्ञान अपने यथार्थ और साधारण रूप में नहीं रहता, बल्कि साहचर्य-संबंधी मानसिक नियम के कारण नवीन रूप धारण कर लेता है। जिस प्रकार स्वप्न के माध्यम से किसी के अन्तःप्रदेश में प्रवेश किया जा सकता है उसी प्रकार कला के माध्यम से कलाकार की मानसिक क्रियाओं और दबी वासनाओं का अध्ययन संभव है। काम-वासना का उन्नयन कर कलाकार उन्हें नवीन रूप दे देता है और माध्यम रूप में आकुञ्चन, रूपान्तरकरण, आरोपण, विस्तारण एवं मूर्त्तीकरण का प्रयोग करता है; इस रूप में कला का उदात्त रूप मूल काम-वासना का रूपान्तरमात्र है। सौन्दर्य-भावना के मूल में यौन-आकर्षण का भाव संचित है और मनस्तत्त्व-विश्लेषकों ने इस दृष्टि से अनेक कलाकारों का विश्लेषण किया है। 'अरस्तू' ने दुःखान्त नाटकों के संबंध में विचार करते समय रेचन-(Catharbis)-क्रिया द्वारा भय और करुण के विरेचन को आनन्दानुभूति का कारण माना है। 'फ्रायड' ने इस सिद्धांत को प्रत्येक कला और रागात्मक अनुभूति के लिए विस्तृत किया। संस्कृत के काव्य-शास्त्र-संबंधी ग्रन्थों में रसानुभूति को ब्रह्मानंद-सहोदर कहा गया है और करुण आदि में आनन्दानुभूति को सहृदय की अनुभूति द्वारा प्रामाण्य। 'काव्य-प्रकाश' के प्रारंभ में 'मम्मट' ने विघ्नों के विनाश के लिए 'भारती' की वन्दना की है जिसमें 'ह्लादैकमयीम्' कहकर वाणी का स्मरण किया है और इसे स्पष्ट करने के लिए वृत्ति में कहा गया है कि विधाता की सृष्टि सुख-दुःख-मोह (सांख्य के अनुसार) तीनों गुणों से मिश्रित है। सत्त्व सुख का, रजस् दुःख का और तमस् मोह का कारण है। रजस् और तमस् के निराकरण द्वारा अतः सत्त्वोदय होता है। ऐसी अवस्था में काव्य को दुःख-निवृत्ति का आधार माना गया है। 'सकलप्रयोजनमौलिभूतम्' (आनंद०) को काव्य का उद्देश्य माना गया है। स्वप्न द्वारा जिस संतुष्टि की प्राप्ति होती है, कुछ उसी प्रकार की संतुष्टि काव्य द्वारा होती है। अतः केवल क्रिया के कारण ही नही, बल्कि उद्देश्य के सादृश्य से भी कल्पना और स्वप्न का अविच्छेद्य संबंध है।

स्वप्न अचेतन मनःस्थित संघर्ष का फल है, अतः अचेतन (unconscious) और सहज (spontaneous) है। कल्पना भी क्या सहज और अप्रयत्नकृत है? प्राचीन कवियो ने वाणी, सरस्वती अथवा 'म्यूज' (muse) से प्रेरणा और उन्मेष

पाने का दावा किया है। 'वाणी स्वयं उन्मेष देती है'—*ऐसा सुकरात ने कहा है। यूनानी नाट्यकार और गेटे, मिल्टन आदि ने इस सहज उन्मेष की प्रेरणा स्वीकार की है। किसी उपन्यासकार ने लिखा है कि चरित्र उसपर अधिकार कर लेते हैं और उनपर उसका कोई वश नहीं रहता। मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना का प्रयत्नकृत रूप माना है। काव्य-रचना के प्रारम्भ में ऐसी कल्पना की स्थिति रहने पर भी रचना के अनुक्रम में कल्पना कवि को आक्रांत कर लेती है, अन्यथा प्रभविष्णुता और संवेदनशीलता नही आ सकती। जिस काव्य में प्रयत्नकृत कल्पना का प्राधान्य रहता है, वह सहज रूप में न प्रभावित कर सकती है और न बोधगम्य ही होगी। एक सीमा तक काव्य को अचेतन और सहज स्वीकार करना पड़ेगा, अतः स्वप्न-जैसा आवेश कल्पना में भी है।

हिन्दी-काव्य-जगत् के किसी-किसी कोने से अनुभूति और सत्यता की दुहाई के साथ कल्पना के बहिष्कार की आवाज सुनाई पड़ रही है। उनके विचार में कल्पना और अनुभूति में विरोध है। कल्पना निर्मूल और निराधार नहीं, इसकी विवेचना इन पंक्तियों में हुई है। कल्पना नवीन रागात्मिका वृत्ति जागरित नहीं करती, रागात्मिका वृत्ति के उभरनेवाले क्षणों को प्रत्यक्ष करती है तथा अनुभूति को पूर्वानुभूति के साथ समन्वित कर आवेग, आवेश, तीव्रता और गंभीरता प्रदान करती है। अनुभूति की दुहाई देनेवाले घटना की सत्यता को ही उसकी वास्तविकता समझते हैं। घटना का महत्त्व रागात्मिका वृत्ति जागरित करने में है। घटनाओं का संबंध इतिहास से है और तज्जन्य अनुभूति का साहित्य और कला से। पत्नी के अभाव में विरह-वर्णन की कविता पढ़ कवि को लांछित करते समय लोगों को भूलना न चाहिए कि केवल पत्नी का विरह-वर्णन सामाजिक और नैतिक पतन का लक्षण है। कारण, नैतिक और सामाजिक विरोध के भय से वह कवि बिना भाँवरेवाली प्रिया के विरह का वर्णन नहीं कर पाता। रीतिकालीन कविता में कृष्ण को 'रसिया' और राधा को सामान्य नायिका बनाने का यही रहस्य है। समाज जहाँ व्यक्ति पर ऐसे प्रतिबंध लगा देता है, वहाँ इस प्रकार के वर्णन के अतिरिक्त और किसी अनुभूति को अभिव्यक्त करने का माध्यम नही रहता। पत्नी ही सदा प्रिया है, अथवा प्रिया ही सदा पत्नी है, ऐसा तो स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वप्न की विकृत प्रतिमाओं का कारण सामाजिक-नैतिक भावनाजन्य संस्कार का अवरोध है। वृत्तियाँ स्वाभाविक प्रवाह में बहती है, नियमन उन्हें विकृत करता है, अतः सत्यता का संबंध घटना की वस्तुगत स्थिति मात्र से नही,

* The Muse inspires men herself.

बल्कि अनुभूति में है। जो कवि कल्पना के द्वारा अनुभूति का उन्मेष चाहते हैं, उनके काव्य में संवेदनशीलता नहीं हो सकती; किन्तु जो कल्पना अनुभूति के उपयुक्त वातावरण उपस्थित करती, उसे तीव्रता, गंभीरता और संक्षोभ देती है, वह काव्य में सदा आदृत होगी।

कल्पना का यह विरोध दुरान्वित सादृश्य और साम्य के विधान के कारण है। कल्पना ऐसे चित्रों में स्पष्टता देने के स्थान में अस्पष्टता और संदिग्धता देती है, फलतः पाठक की ग्रहणशीला कल्पना उन चित्रों में रंग भर नहीं पाती, और दुरान्विता और बोध-हीनता देख वह कल्पना का ही विरोध करने लगता है। महादेवी के चित्रों की अस्पष्टता के मूल में यही दुरान्वित सादृश्य-साम्य-विधान है। चित्रों की रेखाओं में उन्होंने कविता की भावना को बाँधने का जहाँ प्रयास भी किया है, वहाँ माध्यम की भिन्नता के कारण दो प्रकार के मूर्त्त-विधान उपस्थित हो जाते है और दोनों, अतः, परिचय-हीनता के क्षेत्र में प्रवेश पाने लगते हैं।

कल्पना, इस प्रकार, काव्य अथवा कला में अनुभूति को स्पष्टता, गंभीरता, तीव्रता, संवेग और आवेश देती है। कल्पना स्वतंत्र सृष्टि नही कर सकती, वह केवल नवीन रूप ही उपस्थित कर पाती है, जिसे देख सहृदय चमत्कृत हो उठता है। कल्पना 'व्योम-कुञ्जों की परी' भी नही, 'आकाश-लता' भी नहीं, भूमि के गर्भ से ही उसका जन्म है। उसके स्पर्श से नूतनता, भावोद्रेक और चमत्कार-वैचित्र्य है। इस प्रकार वह केवल आकृष्ट ही नही करती, बल्कि मानसिक प्रत्यक्षीकरण द्वारा आधार भी उपस्थित करती है। घटनाओ के संघटन और रूपान्तरकरण द्वारा अनुभूति के उपयुक्त वातावरण तैयार करती है और साधारण-से-साधारण घटनाओ को उन्नयन द्वारा चेतना और सजीवता देती है। कल्पना अलक्ष्य को लक्ष्य, अमूर्त्त को मूर्त्त ही नही बनाती, बल्कि मानवीय रागात्मिका वृत्ति, आकांक्षा और वासना के उदात्त चित्र उपस्थित करती है, जिसमें कला की चेतना-धारा और सौन्दर्य-बोध का आग्रह है।

०

प्रोफेसर प्रभाकर माचवे, एम०ए०

एक नाट्यगीत

[चिर-प्रतीक्षामयी कन्याकुमारी के वर शुचीन्द्र का गीत]

[यह आख्यायिका दक्षिणभारत मे प्रसिद्ध है कि शिव ने बंडासुर को सब प्रकार का अभय दिया। बंडासुर उत्पात मचाने लगा। तब उस वरदान मे यह कहीं

नहीं था कि तुम कुमारी के हाथों मृत्यु से भी बचोगे। फलतः पार्वती ने कुमारी का रूप लिया, वंडासुर का वध किया और शिव-परिणय के लिए हाथों में अक्षत-कुंकुम लिये वह खड़ी रहीं। मुहूर्त्त टल गया। कैलास से दक्षिण-समुद्र तक आने मे वर को देरी हुई! तब कुमारी ने हाथ के कुंकुम-अक्षत फेंक दिये—वही समुद्र-काँठे की सफेद और लाल बालू बनी! शुचीन्द्र का मंदिर कन्याकुमारी के मंदिर से बीस कोस पर है। वर-वधू मिल न सके। अब, जब दक्षिण-समुद्र अपनी मर्यादा उलाँघकर भारतवर्ष के पादमूल पर आक्रमण करेगा, तभी जाकर चिर-प्रतीक्षा-रता कन्या-कुमारी का परिणय-मुहूर्त्त होगा। शुचीन्द्र से मिलन तभी संभव है। इस आख्यायिका के आधार पर नीचे का गीत रचा गया है।—प्र० मा०]

ओ हिन्दमहासागर, कन्याकुमारिका के ओं पद पखारना छोड़ो
तोड़ो, मर्यादा तोड़ो
भर जाय आज फिर क्षार वारि से श्वेत-रक्त यह वेला
फैला, अपनी निधि फैला
यह खड़ा कभी से बड़ा अकेला, दुखियारा, मिलनोत्सुक
शिव ताक रहा है रत्नाकर का रुख, महाब्धि का भी मुख
क्यों बीत गये हैं लाख ज्वार, पर सिन्धु न दे पाया सुख
युग-युग वंचित इस शुचीन्द्र की वांछित परिणय-वेला
लाओ लौटा अवहेला
रिसभरी खड़ी अक्षता फेंक पार्वती, जरा मुँह मोड़ो
तोड़ो, मर्यादा तोड़ो
ओ हिन्दमहासागर!...

•

श्रीपद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

'पंडित रामनरेश त्रिपाठी' : एक भेंट

हिन्दी के अनेक श्रेष्ठ कवि, कथाकार और नाटककार सिनेमा के आकर्षण से बम्बई पहुँच गये हैं। उनसे मिलकर उनके जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में सही-सही दृष्टिकोण का पता लगाना युक्ति-संगत है, यह सोचकर मैं बम्बई गया। हिन्दी-ज्ञान-मंदिर-लिमिटेड के मैनेजिंग-डायरेक्टर और बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ के

संस्थापक-संचालक भाई भानुकुमार जैन की सहायता से बम्बई-स्थित हिन्दी-कलाकारों की सूची बनाते समय पता चला कि 'कविता-कौमुदी' के यशस्वी सम्पादक और 'पथिक', 'स्वप्न', 'मिलन' आदि खण्डकाव्यों के ख्यातनामा कवि पं० रामनरेश त्रिपाठी भी बम्बई में हैं और सेठ श्रीगोपाल नेवटिया के यहाँ ठहरे हैं। मैंने यह सोचकर कि पहले ऐसे व्यक्तियों का 'इण्टरव्यू' लेना अधिक अच्छा है, जो बम्बई में नहीं रहते, त्रिपाठीजी से मिलने का निश्चय किया। फोन द्वारा समय निश्चित हो गया और मैं १८ मई को प्रातःकाल ८ बजे परेल-स्थित हिन्द-सायकिल्स-कम्पनी के दफ्तर जा पहुँचा। यही स्थान है, जहाँ सेठ श्रीगोपाल नेवटिया रहते हैं।

जब मैं हिन्द-सायकिल्स के ड्राइंगरूम में बैठा हुआ था तब त्रिपाठीजी स्नानगृह में थे। ड्राइंगरूम अत्यंत भव्य था। एक मेज पर दुबले-पतले सज्जन एक महिला के साथ कुछ हिसाब-किताब कर रहे थे। मैंने समझा, शायद गृहदेवी किसी कर्मचारी से हिसाब समझ रही हैं! बातचीत मारवाड़ी भाषा में थी, इससे ऐसा भ्रम और भी हुआ। मैं उनकी ओर से उदासीन होकर त्रिपाठीजी के आने की बाट जोहने लगा। थोड़ी देर में त्रिपाठीजी बाहर आये और परस्पर-परिचय हुआ। त्रिपाठीजी को और मुझे स्वतंत्र वार्तालाप का अवकाश देने के लिए जब वह सज्जन उठने लगे तो त्रिपाठीजी बोले—"यही श्रीगोपाल नेवटिया हैं, और यह इनकी पत्नी हैं। मैं दिल्ली था। वहाँ से ये हवाई जहाज में इधर आ रहे थे। मुझसे भी आग्रह किया। कई वर्ष से इधर आया भी न था। हवाई जहाज की सैर के लोभ से चला आया।"

यह सुनकर मुझे आश्चर्य यदि हुआ तो त्रिपाठीजी के हवाई जहाज से बम्बई आने पर नहीं; वरन् आश्चर्य हुआ कई मिलों के संचालक, योरप के अनेक देशों में घूमे हुए मारवाड़ी सेठ श्रीगोपाल नेवटिया और उनकी पत्नी की सादगी पर। सेठ श्रीगोपाल नेवटिया की मेरी कल्पना का महल मानों बारूद से उड़ गया हो!

× × ×

चाय पीने के बाद कुछ देर तक इधर-उधर की बातें हुईं। उसके बाद मैंने पूछा—"आपका बाल्यकाल किन परिस्थितियों में बीता और उन्होंने आपके कलाकार के निर्माण में कहाँ तक सहायता पहुँचाई?"

त्रिपाठीजी बोले—"मैं तो एक किसान का लड़का हूँ। उन्नीस वर्ष की आयु तक मैंने जौनपुर और फैजाबाद—दो ही शहर देखे थे। मेरा गाँव आसपास के शहरों से कम-से-कम ३० मील की दूरी पर था। इससे वर्तमान सभ्यता की कोई किरण शायद ही वहाँ पहुँची हो। मेरे जीवन पर मेरे पिता का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। वह रामायण के बड़े प्रेमी थे। और, मुझे याद आता है कि

सवेरे चार वजे वह मुझे माँ की गोद से उठवा मँगाते थे और रामायण की चौपाइयाँ रटाते थे। मुझे यह अच्छा नहीं लगता था। लेकिन पिता के इस अप्रिय प्यार का लाभ यह हुआ कि आज तक मैं रोज चार वजे उठता हूँ, चाहे तीन वजे ही सोऊँ, और उससे भी विलक्षण वात यह है कि 'गंगा-लहरी' का एक श्लोक उन्होंने गलत याद करा दिया था—आज भी एक वार उस श्लोक को गलत वोलकर दुवारा शुद्ध करना पड़ता है! इस प्रकार मेरा जीवन-काल जैसा किसान के घर में वीतना चाहिए वैसा ही वीता। जंगल, खेत आदि का प्रभाव जीवन पर पड़ा ही। जव मैं अपर-प्रायमरी में पढ़ता था तव यह एक दोहा मैंने याद कर लिया था—'तुलसी कर पर कर धरो, कर तर कर न धरो; जा दिन कर तर कर धरो, ता दिन मौत खरो'—उन दिनों 'खरो' का अर्थ 'खड़ी' समझता था। इस दोहे का प्रभाव मेरे जीवन पर वहुत गहरा पड़ा है और आज तक है। हिन्दी के अनेक साहित्यिक इस भ्रम में हैं कि मैंने अपने धनी मित्रों से लाभ उठाया होगा; पर इस दोहे ने मुझे इस लाभ से सदा वंचित रखा है। उस समय एक पुस्तक और पढ़ाई जाती थी। उसका नाम था—'नीति-तरंगिणी'। उसका एक श्लोक मुझे अवतक कंठस्थ है—'प्रतिष्ठा शूकरी-विष्ठा, गौरवं घोर रौरवम्; मानं चैव सुरापानं त्रयं त्यक्त्वा सुखी भव।' यह किसी ऋषि ने अपने उस शिष्य से कहा था, जिसने सुखी होने का उपाय पूछा था। इसका प्रभाव भी मेरे जीवन पर रहा। वैसे मान मुझे वहुत मिला है, पर उसके लिए चेष्टा मैंने नहीं की। न किसी से लेख लिखाये और न अपने मुँह से अपनी प्रशंसा की।"

इतना कहते-कहते वह कुछ गम्भीर-से हो गये। मैंने अनुभव किया कि त्रिपाठीजी के विषय में जो प्रवाद फैलाये गये है, उनकी असत्यता के कारण ही उन्होंने ऐसा कहा है। मैंने अधिक वात न वढ़ाकर दूसरा प्रश्न किया—"आपका साहित्य-सृजन कव और कैसे आरम्भ हुआ और उसके लिए आपको प्रेरणा कहाँ से मिली?"

उन्होंने वताया—"गाँव के स्कूल में पढ़ते समय ही मैं कविता लिखने लगा था। उन दिनों मेरी उम्र तेरह वर्ष की थी। उन दिनों 'कवीन्द्र-वाटिका', 'रसिक-रहस्य' आदि मासिक पत्र गाँव के अध्यापक के पास आया करते थे। वह स्वयं भी कविता करते थे। उन मासिक पत्रों से मुझे कविता का रस मिलने लगा। मझे याद आता है कि उस समय की रीडर 'हिन्दी-शिक्षावली' के चौथे भाग के अन्तिम पृष्ठ पर मैंने एक समस्या की पूर्ति कर दी थी। इस समय मुझे उसकी समस्या ही याद है, जो यों थी—'पेटी न दिखाओ कोऊ पेट मारि मरिहै।' तव मैं 'पेटी' तथा 'पेट मारना' का अर्थ नहीं समझता था। उस समस्यापूर्ति पर अध्यापक ने मुझे

पीछा भी छूट गया। उसी समय अलीगढ़ से निकलनेवाले 'शिक्षा-प्रभाकर' में एक लेख भी लिखा था, जिसकी खूब प्रशंसा हुई थी और उसपर डिप्टी-इन्स्पेक्टर ने इनाम भी दिया था। सोलह वर्ष की अवस्था में मैं कलकत्ता आया। वहाँ पर मेरा साथ एक पंजाबी सज्जन से हुआ। उनका नाम टेकचन्द आर्य था। वह कलकत्ता-आर्यसमाज के प्रधान थे। बाबू राधामोहन गोकुलजी, जो 'सत्यसनातन' पत्र निकालते थे, कलकत्ता के दूसरे व्यक्ति थे जिनसे मेरा परिचय हुआ। उनके यहाँ रोज शाम को जाकर मासिक, साप्ताहिक आदि पत्र पढ़ा करता था। एक प्रकार से कलकत्ता ही मेरी साहित्यिक परिधि के विस्तार का कारण हुआ। वहीं मेरा परिचय संस्थाओं से हुआ और मुझे दूर-दूर तक प्रकाश दिखाई देने लगा। वहीं मुझे संग्रहणी हुई। मेरे माता-पिता मुझे लिवाने कलकत्ता आये। मुझे लौटने में लज्जा का अनुभव हुआ। माता तो बिना कुछ कहे रोकर घर लौट गई, लेकिन पिता का दर्द जागा और उन्होंने कहा—'अशक्त हो तो घर वापस न आना।' मुझे यह वाक्य तीर की तरह लगा। यही कारण है, मुझे जब डाक्टरों ने यह कह दिया कि तुम पन्द्रह दिन से अधिक जिन्दा न रहोगे, तब भी मैं घर न जाकर राजस्थान जा पहुँचा—एक राजस्थानी सज्जन का पत्र लेकर। फतहपुर (सीकर) में पहुँचने पर मेरी संग्रहणी दूर हुई। इसके बाद मैंने वहाँ एक पुस्तकालय खोला। ब्राह्मण मेरे विरोधी हो गये और जब मैं रास्ते में जाता होता तो वे कहते—'देखो, चाण्डाल जा रहा है!' इतना होने पर भी मैं वहाँ पाँच वर्ष तक रहा। वहाँ रहकर मैंने ५,२०० पुस्तकें पढ़ीं, जिनमें ३००) रुपये तक का ऋग्वेद-भाष्य भी सम्मिलित है। उस समय मेरी उम्र २१ वर्ष की थी। वही मेरी साहित्यिक जमा-पूँजी है। वहीं मैंने पहले-पहल 'हिन्दी-महाभारत' लिखा, जो 'हिन्दी-प्रेस' (प्रयाग) से छपा। उसकी भाषा इतनी पसन्द की गई कि वह ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम के कोर्स में रखा गया। वहीं मैंने यह प्रार्थना लिखी, जो शायद सबसे अधिक प्रचलित प्रार्थना है—

"हे प्रभो, आनन्ददाता, ज्ञान हमको दीजिए।
शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हमसे कीजिए॥
लीजिए हमको शरण में, हम सदाचारी बनें।
ब्रह्मचारी, धर्म-रक्षक, वीर-व्रतधारी बनें॥"

यह प्रार्थना मुझे भी सबसे अधिक प्रिय रही है; क्योंकि केवल चार पंक्तियों में इसमें आत्म-निवेदन की पराकाष्ठा हो गई है। लेकिन इससे पहले मुझे यह पता न था कि यह त्रिपाठीजी की ही लिखी है। मुझे आश्चर्य होना स्वाभाविक था। मैं इस बात पर कुछ क्षण आश्चर्य-चकित बैठा रहा। तभी त्रिपाठीजी ने कहा—"इस सम्बन्ध में एक बात और भी उल्लेखनीय है। वह यह है कि मैंने

हिन्दी, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के वर्तमान मंत्री श्रीरामनारायण मिश्र की प्रेरणा से, सीखी। वह यदि न मिलते तो मैं या तो मुन्शी होता या अहलमद या मुख्तारेआम !"

मैंने पूछा—"कैसे ?"

"तब मैं सात वर्ष का हूँगा। मिश्रजी स्कूलों के इन्स्पेक्टर थे। वह हमारे ही यहाँ ठहरे थे। मुझसे जब उन्होंने पढ़ने की बात पूछी और मैंने उर्दू का जिक्र किया तो वह बड़े रुष्ट-से हुए और पिताजी को मुझे हिन्दी पढ़ाने की सलाह दी। तभी से मैं हिन्दी पढ़ने लगा।"

मैंने उनसे पूछा—"वे देशी-विदेशी कलाकार कौन-से हैं, जिनका आपके ऊपर प्रभाव पड़ा है ?"

उन्होंने कहा—"सबसे पहला प्रभाव तो बँगला-साहित्य का पड़ा। उसमें भी 'वंकिम' मुझे सर्वाधिक प्रिय लगते हैं। तब 'रवीन्द्र' का उदय भी हो रहा था। उनका भी प्रभाव मेरे ऊपर है। 'शरद' के प्रभाव से भी इनकार नहीं कर सकता। शरद और वंकिम में कला की दृष्टि से शरद श्रेष्ठ हैं; परन्तु वंकिम का स्थान विस्तृत दृष्टिकोण के कारण शरद से ऊँचा है। बंगाल की चित्रकला मुझे कभी पसन्द नहीं आई। मैं बंगाल के चित्रों को 'आर्त्त बंगाल के चित्र' (Malarial Bengali Picture) कहा करता हूँ।"

कला की बात आते ही लगभग दस मिनट तक हमलोगों में कला की परिभाषा पर विचार-विनिमय होता रहा। त्रिपाठीजी के विचारों का सार था—"कला का सम्बन्ध ज्ञान से है। मानसिक स्तर की ऊँचाई-नीचाई से ही कला का मापदण्ड स्थिर हो सकता है। इसीलिए जहाँ एक वस्तु में किसी व्यक्ति को कला दीखती है, वहाँ दूसरे को उसमें नहीं। देश-काल भी उसमें सहायक होते हैं।"

इसके बाद उन्होंन प्रभाव की श्रृंखला की कड़ियाँ जोड़ते हुए कहा—"मेरे व्यक्तिगत जीवन पर 'यूस अफ लाइफ' (Use of Life) नामक पुस्तक का बहुत प्रभाव है। यह पुस्तक 'सर जॉन ल्यूवक' की लिखी हुई थी। मैंने सभ्य समाज के नियम इसीसे सीखे। मैं आज भी उसके नियमों का पालन करता हूँ। उदाहरण के लिए, पहली मुलाकात में थोड़ा समय देना—अधिक से अधिक पाँच या दस मिनट, और दूसरी मुलाकात गहरी करना। मुझे कालिदास का 'मेघदूत' भी प्रिय था—कला की दृष्टि से। वर्णन की दृष्टि से वाल्मीकि मुझे भाते हैं। कालिदास की कविता निरुद्देश्य है ! उन्होंने वही बात कही है, जो कवि को कहनी चाहिए। वाल्मीकि ने जनता के लाभ की बात कही है। तुलसी की रामायण ने मेरे जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव डाला है। इसका कारण यह है कि मुझे वही कला प्रिय है,

जिससे जनता का अधिक हित हो। हिन्दी के अन्य कवियों में महाकवि नाथूराम शंकर शर्मा की कविता मुझे बहुत अच्छी लगती थी। उनकी 'शंकर-सरोज' पुस्तक मैंने पैसे से खरीदकर पढ़ी। विदेशी काव्य का प्रचार तब कम था और उन दिनों विदेशियों से घृणा भी थी। इसलिए उनका प्रभाव मेरे ऊपर नही पड़ा। वैसे भी कला की दृष्टि से वे फीके हैं।"

ग्यारह बज गये थे। नेवटियाजी को आफिस जाना था, जो फोर्ट (बम्बई) में है। अतः खाना साथ-साथ खाने का प्रस्ताव रखा गया। हम सबने साथ-साथ भोजन किया। भोजन की सादगी और सात्विकता से भी अधिक आकर्षक चीज मुझे लगी शिष्टाचार अथवा दिखावे का अभाव। ऐसा प्रतीत होता है कि नेवटियाजी दिखावे से स्वयं बहुत दूर हैं और अपने घर-बाहर के जीवन में कही भी उसे स्थान नही देते। यह बात असाधारण है—इसलिए नहीं कि इसका अन्यत्र अभाव है, वरन् इसलिए कि नेवटियाजी जिस वर्ग के हैं उस वर्ग में अधिकांश दिखावा ही दिखावा है। अस्तु, नेवटियाजी आफिस गये और हमलोग फिर अपने काम पर जम गये। खाना हमारे विचार-विमर्श के बीच सिनेमा के 'इण्टरवल' की भाँति था। मैंने त्रिपाठीजी से प्रश्न किया—"छायावाद और रहस्यवाद तथा प्रगतिवाद के सम्बन्ध में आपका क्या मत है ?"

वह बोले—"मेरे विचार छायावाद के अनुकूल नहीं हैं। कारण यह है कि छायावादी अपना अनुभव स्पष्टतया नहीं कह सकते, और मेरी सम्मति में जो कवि अपना अनुभव भी ठीक तरह व्यक्त नही कर सकता वह चोरी करके धन बाँटता है। हिन्दी में रहस्यवाद के आदिकवि कबीर थे। उनके मुख से उनके अनुभव की बातें अनायास निकल आई है। उन छायावादी और रहस्यवादी कवियों से—जो स्वयं अपनी कविता का अर्थ समझाने में असमर्थ रहते हैं—पदमाकर, बोधा, देव और बिहारी ही अच्छे हैं; क्योंकि इनकी कल्पना और अनुभूति हमारी कल्पना और अनुभूति से मेल खाती है। इसके विपरीत, आधुनिक कवियों की कल्पना तथा अनुभव उधार लिये-से जान पड़ते हैं। सच तो यह है कि जो कविता हमारे वर्तमान जीवन की तरंगों में न दिखाई पड़े, उसे मैं कविता नहीं मानता। कबीर के अतिरिक्त अन्य प्राचीन कवियों—तुलसी, सूर आदि—ने भी रहस्यवाद पर अच्छी अनुभूतियाँ प्रकट की है। वे अधिकारी थे, उनका जीवन रहस्यमय था। आजकल के कवियों में इसका नितान्त अभाव है। कबीर ने कहा है—'गगन गरजि बरसै अमी, बादर गहरि गभीर; चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर'—ऐसी तीव्रता छायावादी कवियों में कहाँ है ?"

"तो क्या आप छायावाद और रहस्यवाद को एक ही वस्तु समझते हैं ?"

"हाँ ! अन्तर केवल इतना है कि छायावाद में प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्ति होती है, रहस्यवाद में वे प्रतीक गायव हो जाते हैं ; रहस्यवाद में अभिव्यक्ति सीधी होती है, छायावाद की भाँति घुमाफिराकर नहीं ।"

"और प्रगतिवाद ?"

"यह नई वस्तु है । इसके प्रचार के साथ ही मैंने साहित्य से संन्यास ले लिया। इसलिए मै इस सम्वन्ध में कुछ नहीं कह सकता ।"

मेरा अगला प्रश्न था—"आपको सर्वाधिक सन्तोष किस कृति को लिखकर हुआ है ?"

उन्होंने उत्तर दिया—"पथिक लिखने के वाद मुझे सर्वाधिक सन्तोष हुआ है। उन दिनों मेरे ऊपर गान्धीजी के जीवन का प्रभाव था । उसीको मैंने 'पथिक' में व्यक्त किया है । यह खड़ी वोली का सर्वप्रथम राष्ट्रीय कथात्मक खण्डकाव्य है। इसमें किसी पौराणिक या ऐतिहासिक कथा का आधार नहीं लिया गया है । इसके वाद 'स्वप्न' का नम्बर आता है । यह भी खण्डकाव्य है । कला की दृष्टि से कुछ विद्वान् 'स्वप्न' को 'पथिक' से अच्छा वताते हैं, परन्तु स्वयं मुझे 'पथिक' से अधिक तुष्टि मिलती है । इसके निर्माण की भी कहानी है । जव मै दक्षिण-भारत की यात्रा को गया तो मैंने पहाड़, जंगल, समुद्र और केलों के वन देखे। इनके सौन्दर्य से मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ । उस समय मेरे मन में ऐसा विचार आया कि कोई ऐसी कहानी लिखी जाय, जिसमें ये सव दृश्य गूँथे जा सकें और जो हृदय के सुख को शब्दों में प्रकट कर दे ! यह विचार ही 'पथिक' की रचना का मूल है । उसमें गान्धीजी का चित्र है ।"

"क्या आप यह वताने की कृपा करेंगे कि सृजन के पूर्व, सृजन के समय और सृजन के वाद आपकी मनःस्थिति क्या होती है !"—मैंने उनसे पूछा ।

कुछ क्षण मौन रहने पर वह वोले—"मेरी प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न रहीं, इसलिए कविता की धारा उमड़ने का समय ही नहीं रहता था । यकायक जव मन में तरंग आती थी तव मैं उसे पकड़ लेता था और तवतक उसके साथ रहता था जवतक वह पूर्ण रूप से व्यक्त न हो जाय । इस आधार पर मैं कह सकता हूँ कि मेरी प्रत्येक रचना एक ही वैठक की है । यह वात मै छोटी कविताओं के विषय में नहीं कह रहा हूँ, क्योंकि छोटी कविताएँ मैंने कम लिखी है । यह तो वड़ी पुस्तकों की वात है । मैंने इक्कीस दिन में 'पथिक', तेरह दिन में 'मिलन' और दो महीने में 'स्वप्न' की रचना की । 'जयंत' नाटक तो केवल पाँच ही दिन में लिखा ! पुस्तकें लिखते समय अकेला ही घूमता था, किसीके साथ नहीं । जव थक जाता था तव थकान दूर करने के लिए बच्चों के लिए कहानियाँ लिखता था ।

'बाल-कथा-कहानी' के सत्रह भाग पुस्तक-प्रणयन के बीच थकान दूर करने के लिए ही लिखे गये हैं। पुस्तक की समाप्ति पर बोझ उतारने के लिए या तो सिनेमा देखता था या मित्रों से गप-शप करता था। छपने पर यह लालसा अवश्य रहती थी कि परिचित और महान व्यक्ति मेरी कृति के सम्बन्ध में क्या कहते हैं। हर्ष की बात है कि इस देश के बड़े-से-बड़े नेताओं ने मेरी कृतियों को सराहा है। उनमें सर्वश्री गांधीजी, मालवीयजी, लाला लाजपतराय, राजेन्द्र बाबू, टण्डनजी आदि सभी प्रकार के व्यक्ति हैं।"

त्रिपाठीजी ने हिन्दी में सबसे पहले ग्रामगीतों का संग्रह किया है, यह सोचकर मैंने उनसे जानना चाहा—"उस समय, जब ग्रामगीतों की ओर लोगों का ध्यान भी न था और उनको लोग हेय दृष्टि से देखते थे, आपको कैसे ग्राम-गीतों के संग्रह की प्रेरणा मिली ?"

उन्होंने गम्भीर होकर कहा—"जब मैं देहात से शहर आया तो मुझपर शहर का रंग चढ़ गया और मैं देहात को घृणा करने लगा। इसलिए, ग्रामगीतों के संग्रह में मेरे आंतरिक अनुराग का हाथ हो, ऐसा नहीं है। यह तो मेरे भावुक हृदय की प्रतिक्रिया का परिणाम है। सन् १९२४ में इलाहाबाद से जौनपुर जा रहा था। बीच में भन्नौर स्टेशन पड़ा। वहाँ कुछ गरीब मजदूर, जिनके साथ स्त्रियाँ भी थीं, कलकत्ता जाने के लिए उसी डब्बे मे आ बैठे। गाड़ी चली और स्त्रियों ने गाना शुरू किया—'रेलिया सवति मोर पिया लैके भागी।' यह सुनकर मेरे विचारों को धक्का लगा। रेल को 'सौत' कहना अजीब लगा। यह किसकी सूझ है ? क्या किसी पुरुष कवि की है ? वह इन मजदूरिनों के यहाँ कैसे पहुँच सकता है ? तब यह गीत किसने बनाया ? उस समय अनेक ऐसे प्रश्न उठकर मन-के-मन में ही रह गये। उसके कई महीने बाद एक मेले में एक गीत का टुकड़ा और सुनने को मिला—'सावन में मै मेंहदी बोआयहुँ, भादों में दुइ पात ; लगत कुँआर सैयाँ भये परदेसिया, सीचौं मै नयन निचोरि'—यह दूसरा धक्का था, जो मुझे लगा। यह कौन है, जो ऐसे गीत बनाता है ? हिन्दी, संस्कृत और उर्दू का तो कोई कवि इन स्त्रियों की पहुँच से बाहर की वस्तु है। तब, हो न हो, यह कोई स्त्री ही बनाती होगी। यह मैंने इस दूसरे धक्के के समय सोचा। तीसरा धक्का एक अहीर के बिरहे का लगा। वह था—'बिरहा गावउँ बाघ का नाईं, दल बादल घहराय ; सुनि के गोरिया आँगन उठि धावै, बिरहा क सबद ओनाय'—इन धक्कों से मेरा हृदय उस कवि की खोज को व्याकुल हो गया, जिसने ये सूक्ष्म भावनाएँ व्यक्त की हैं। मेरे कान तभी से ग्रामगीतों से चिपकने लगे, और १९२५ का पहली जनवरी को मैंने गाँवों की यात्रा शुरू कर दी। लगातार

आठ वर्षों तक समस्त भारत में दो-तीन बार घूमा। ग्रामगीतों का अध्ययन किया और भिन्न-भिन्न प्रांतीय भाषाओं के बीस हजार गीत संग्रह किये। उसपर एक पुस्तक भी लिखी, जिसे ग्रामगीतों की भूमिका ही कहना चाहिए। उसका दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ा, यह तो मैं नहीं जानता; परन्तु मुझपर यह प्रभाव पड़ा कि मुझे अपनी ही कविता फीकी लगने लगी। उसके बाद मेरी प्रवृत्ति कविता लिखने की ओर न हुई, उसके मूल कारणों में एक यह भी है। ग्रामगीतों के संग्रह और प्रकाशन में सबसे बड़ी सहायता सेठ घनश्यामदास बिरला ने स्वेच्छा से दी। इसके सिवा एक सात्विक दान भी मिला। भेजनेवाले का नाम आजतक नहीं जान सका; किन्तु वह दिल्ली के थे, क्योंकि लिफाफे पर दिल्ली की मुहर थी। दाता ने लिखा था—'मेरी स्त्री ग्रामगीतों से बड़ी प्रभावित हुई है। उसकी प्रेरणा से ५००) रुपये आपके स्वास्थ्य के लिए भेजता हूँ। आपके व्यक्तिगत जीवन से मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है, पर स्वास्थ्य से अवश्य है। मेरा नाम जानने की चेष्टा न कीजिएगा, क्योंकि लिफाफे पर गलत नाम लिखा है'।"

मैं गुप्तदानी सज्जन की गुणग्राहकता और साहित्य-प्रेम पर आश्चर्य कर रहा था और त्रिपाठीजी कह रहे थे—"मैं ग्रामगीतों को स्वाभाविक कविता मानता हूँ। वे सीधे हृदय से निकलते हैं, उनमें मस्तिष्क का मिश्रण बिलकुल नहीं होता। उनका प्रभाव भी सीधा हृदय पर पड़ता है। आजकल की कविता में मस्तिष्क अधिक, हृदय कम रहता है; इसीलिए उसका प्रभाव मस्तिष्क पर अधिक पड़ता है, हृदय पर कम। मैं समझता हूँ कि वर्तमान कवि ग्रामगीतों की इस विशेषता का अनुसरण करेंगे तो उनकी कविता भी लोकप्रिय होगी और उससे साहित्य का भी हित होगा। कारण, जिन पंक्तियों में कवि खड़ा दिखाई दे वह कविता है, और जिनमें वह न हो वह पद्य है। सुना है कि विदेशों में लोक-साहित्य का बहुत बड़ा प्रभाव सभ्य समाज के साहित्य पर पड़ा है। यहाँ भी पड़ना चाहिए।"

"आजकल ग्रामगीतों के संग्रह पर काफी जोर दिया जा रहा है और कई लोग इस दिशा में कार्य कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं? यदि कोई व्यक्ति ग्रामगीत-संग्रह करना चाहे तो उसे क्या तैयारी करनी चाहिए?"—मैंने पूछा।

उन्होंने बताया—"गत बीस वर्षों में कुल चार-पाँच संग्रहकार निकले हैं जब कि हर जिले से एक-एक निकलना चाहिए था। यह कुछ प्रगति नहीं है। लेकिन फिर भी संतोष का विषय है कि इस ओर ध्यान दिया जा रहा है। जो महानुभाव ग्रामगीत-संग्रह कर रहे हैं, उनमें मुझे श्रीसूर्यकरण पारीक का स्वाभाविक विश्लेषण पसंद है और श्रीदेवेन्द्र सत्यार्थी की व्यक्त करने की कला। वैसे सबका अपना-अपना ढंग उनके लिए ठीक है। ग्रामगीत-संग्रह करनेवाले को भूख-प्यास

और सुख-दुख सहने की शक्ति अर्जित करनी चाहिए और छूत-छात के बन्धनों से परे होना चाहिए। एक बार मुझे कश्मीरी गीतों के संग्रह के सिलसिले में कश्मीर जाना पड़ा। वहाँ मैं छः महीने एक चमार के घर रहा। उन दिनों लाला लाजपत राय भी स्वास्थ्य-सुधार के लिए वहाँ गये हुए थे। उन्हें चमारों के गीत बहुत पसंद थे। वह मुझे अक्सर बुलाकर उनके गीत सुनते थे। वस्तुतः नीच जातियों के पास ही सच्चे ग्रामगीत हैं। वे ही प्राचीन भारत की संस्कृति की विशेषता को अपने भीतर समाये हुए हैं।"

विषय लम्बा था और चर्चा बेहद गंभीर होती जा रही थी, इसलिए मैंने विषय बदलकर उनसे प्रश्न किया—"क्या आपकी दृष्टि में साहित्योपजीवी होकर जिया जा सकता है?"

"अवश्य, जनता अपना हित करनेवाले साहित्यकार को कभी भूखों नहीं मरने देगी। मेरा तो विश्वास है कि लेखक यदि स्वयं लक्ष्मी का मार्ग रोककर खड़ा न हो जायगा तो लक्ष्मी उसके घर आये बिना न रहेगी।"

"इतनी लम्बी साहित्य-साधना में क्या कभी आपका जी भी ऊबा है? यदि हाँ, तो उसके क्या कारण रहे हैं?"—मैंने फिर प्रश्न किया।

उन्होंने नकारात्मक स्वर में कहा—"कभी नहीं, क्योंकि मुझे सम्मान और प्रोत्साहन बराबर मिला। मेरी सभी पुस्तकों का आदर हुआ और महान-से-महान व्यक्तियों ने उन्हें सराहा। किसी कवि या लेखक को ऊँचा उठाने के लिए यह सर्वश्रेष्ठ उपाय है। मैंने जो कुछ लिखा, सहज अन्तःप्रेरणा से लिखा है। पैसे कमाना मेरा ध्येय कभी नही रहा। यदि यह ध्येय होता तो पचास वर्ष की उम्र में संन्यास न लेता। आपको शायद पता न होगा कि हिन्दी-मन्दिर छोड़ते समय मेरी आय ७००)—८००) मासिक थी। उसे मैंने छोड़ा ग्राम्य जीवन के लिए। वैसे पैसा परिश्रम का पुत्र है; वह जा कहाँ सकता है? मेरी भी सदा परिश्रम करने की आदत रही है। अपना क्षण-क्षण मैंने साहित्य के लिए लगाया है। आपको शायद यह जानकर आश्चर्य होगा कि तुलसीदास की रामायण की टीका मैंने रेल में की है। जब-कभी बाहर जाता था, सादा कागज पर चौपाइयाँ चिपकवा लेता था और पचास पन्ने साथ ले जाता था। जी ऊबने पर पेंसिल उठाकर लिखने लग जाता था। लौटने पर पचास पृष्ठ पूरे कर देता था। घर पर लेखक से स्याही से लिखा लेता था। इस परिश्रम के कारण साहित्य से जी ऊबने का प्रश्न ही नहीं उठा।"

मैंने फिर विषय बदला और उनसे पूछा—"आप कवि और लेखक थे और यों जीविका भी चला सकते थे, तब फिर आप प्रकाशक क्यों बने?"

उन्होंने उत्तर दिया—"जीविका के लिए मुझे नौकरी से घृणा थी। दूसरी बात यह थी कि राजपूताना में, व्यापारियों के बीच में, रहने से मुझपर यह छाप पड़ी कि जीविका के लिए व्यापार ही करना चाहिए। मैं काम की खोज में प्रयाग आया। इण्डियन प्रेस के स्वामी बाबू चिन्तामणि घोष से मिला। उन्होंने मुझे पुस्तकों के व्यवसाय की सलाह दी। इस प्रकार मैं प्रकाशक बना। इसमें मुझे स्वतंत्रता भी थी और मैं राष्ट्रीय कार्य भी कर सकता था। प्रयाग में मुझे बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन ने बड़ा प्रोत्साहन दिया। वैसे मैं होमरूल-लीग के मेम्बरों में भी था। इसमें सर्वश्री मोतीलाल नेहरू, लाजपत राय, गांधीजी, मालवीयजी, लोकमान्य तिलक-जैसे व्यक्ति थे। १९१८ में सम्मेलन का प्रचार-मंत्री भी मैं ही था। इन नेताओं के सम्पर्क से मैं अपयश से डरने लगा। ये सब परिश्रमी थे। इनके सहयोग से मुझे स्वतंत्र श्रम की आदत पड़ गई और मैंने प्रकाशन के कार्य में काफी श्रम किया। अधिकतर अपनी लिखी पुस्तकें ही प्रकाशित कीं। इसके कारण किसी अन्य लेखक से कभी कोई संघर्ष भी नहीं हुआ।"

"हमारे साहित्य का भविष्य क्या होगा?"—मैंने अगला प्रश्न किया।

उन्होंने दृढ़ता से कहा—"भविष्य तो अत्यंत उज्ज्वल है। लेकिन हमारे लेखकों में स्वाध्याय की कमी है। एक सुप्रसिद्ध लेखक से यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उन्होंने पूरा रामचरित-मानस ही नहीं पढ़ा था! बाबू सम्पूर्णानन्द के शब्दों में आवश्यकता इस बात की है कि हम संस्कृत-साहित्य से अपनी प्रेरणा लें, न कि अंग्रेजी से। तुलसी ने भी तो संस्कृत से ही सामग्री लेकर अपना साहित्य रचा था। इसके अतिरिक्त भाषा में बड़ी अराजकता है। हम स्त्रियों का घूंघट हटाने की कोशिश कर रहे हैं; परन्तु अपनी भाषा को ऐसा घूंघट पहना रहे हैं, जो कभी न खुलेगा। मेरे विचार में भाषा इतनी सरल होनी चाहिए कि वह अधिक-से-अधिक लोगों द्वारा समझी जा सके। इस दृष्टि से उर्दू के कवि और लेखक बाजी मारे ले जा रहे हैं। हिन्दीवाले गुमराह हैं। मेरा खयाल है कि एक दिन हिन्दीवाले उनके आगे न चलकर पीछे चलेंगे। वैसे अंग्रेजी-पढ़े-लिखे इस गाड़ी को जल्दी खींच ले जायँगे। उनका स्वागत होना चाहिए। हमारी अपेक्षा उनका दृष्टिकोण और भाषा परिष्कृत है। वे हर क्षेत्र में काम कर रहे हैं। उनकी जीविका का प्रबन्ध होना चाहिए। लेकिन नये लेखकों को प्राचीन साहित्य न छोड़ना चाहिए। उसका गंभीर अध्ययन होने से वे देश को नवीन दृष्टि के साथ प्राचीन संस्कृति के दर्शन करा सकेंगे।"

त्रिपाठीजी सन् ४१ से साहित्य से संन्यास ले चुके हैं। एक जिन्दादिल और परिश्रमी साहित्यकार साहित्य से संन्यास ले, यह आश्चर्य की बात है, क्योंकि साहित्य

से संन्यास लिया ही नहीं जा सकता। यह तो साहित्यकार की आत्मा की वस्तु बन जाता है। इसलिए मैंने उनसे पूछा—"आपने साहित्य से संन्यास ले लिया है! क्या इससे आप प्रसन्न हैं? यदि नहीं, तो आप भविष्य में क्या करना चाहते हैं?"

बड़े स्वाभाविक ढंग से उन्होंने कहा—"संन्यास मैंने लिया है, पर मेरी हालत उस दीवाने की-सी है, जिसके विषय में किसी शायर ने कहा है—'घर में जी लगता नहीं, सहरा से घबराता है दिल ; फिर कहाँ ले जा के रक्खें, ऐसे दीवाने को हम'—लेकिन अब भी मैं कुछ गंभीर कार्य नहीं करना चाहता। इतना अवश्य करना है कि युक्तप्रान्त के अड़तालीस जिलों में एक ही डिजायन के तुलसी-सत्संग-भवन बनवाने हैं, जिनमें सप्ताह में एक दिन तुलसी के ग्रन्थों की चर्चा या अन्य साहित्यिक व्याख्यान हुआ करें। उसमें एक कमरा 'हिन्दी-परिषद्' या प्रचार का भी रहे। वर्ष में एक बार सारे सूबे के चुने हुए प्रतिनिधियों का साहित्यिक समारोह हुआ करे। यदि युक्तप्रान्त में यह काम पूरा हो गया तो बिहार, मध्यप्रदेश और अन्य पश्चिमी प्रान्तों में—जहाँ तुलसी के प्रति प्रेम है—ऐसे सत्संग-भवन बनवाने की कोशिश करूँगा। यह सब कार्य चन्दे से होगा। स्थानीय-समिति द्वारा ही वह चन्दा एकत्र होगा। उसीको सारा बोझ सौंपा जायगा। उसमें समस्त धार्मिक पुस्तकें रहेंगी और पठन-पाठन की सुविधा भी रहेगी। अपने अन्तिम दिनों में यही कार्य करने की इच्छा है। इसके अतिरिक्त, यदि हो सका तो, ग्रामगीतों का सम्पादन अभी और पूरा करना है।"

इतना कहकर वह चुप हो गये। चार बज चुके थे। उन्हें भी बम्बई जाना था और मुझे भी अब कुछ पूछना बाकी न था। हमलोगों ने चाय पी और साथ-साथ बम्बई को रवाना हुए।

•

श्रीरामदयाल पाण्डेय

त्रिपथगा

१—साँझ

दूर क्षितिज पर, दूर क्षितिज पर
आई साँझ सुदूर क्षितिज पर
नयन-कमल मूँदे रहे जगत् के
दिन-भर की किरणों को लेकर

दिन की सतरंगी तरुणाई
सिमट गई लेकर अँगड़ाई
चमक रही है तरु-शिखरों पर
नव आशाओं की अरुणाई
दिन की लम्बी परछाँई है
नाच रही कण-कण में कातर

लौट चले पंछी कोटर को
लौट रहे हैं पंथी घर को
विदा-गान गा रहे दिवस के
फिर भी मुखरित कर मधुस्वर को
पीकर दिन-भर का कोलाहल
मौन हो गया सूना अम्बर

बिछे पंथ पर बिछुड़े लोचन
कुमुदों का लेकर आकुलपन
दूर क्षितिज की आकुल बाँहें
करतीं प्राणों का आवाहन
नयनों में मन-चक्रवाक के
सावन-घन आते हैं भर-भर

टुन-टुन-टुन घंटियाँ बजाती
गाएँ चरवाहों सँग आतीं
बिछुड़े बछड़ों से मिलने को
उमड़ रही है आकुल छाती
थके हुए चरणों की गति भी
प्यार न होने देता मंथर

आती झोपड़ियों की रानी
सिर पर बोझ, दृगों में पानी
पानी, जो न हरी कर पाता
भूखी - सूखी - थकी जवानी
दिन-भर के जड़ श्रम का बन्धन
देती खोल साँझ यह आकर

दृग अन्धे होते, थकते पग
पंखहीन होता जीवन-खग
यदि न साँझ घंटियाँ बजाकर
तारों से करती नभ जगमग
जीवन-शिशु को प्रात जगाता
साँझ न होने देती जर्जर

२—जागती रात

आँखें बन्द हुईं तो क्या है
बन्द नहीं हो सका जागरण
रात जागती, ज्योति माँगती
खोल गगन में अगणित लोचन

निर्जन-सा संसार हो गया
नीरव-सा व्यापार हो गया
ओढ़ तिमिर की काली चादर
जग यह एकाकार हो गया
कोलाहल सो गया जगत् का
किन्तु गान गा रहा समीरण

तन सोया, सो सका नहीं मन
श्रम सोया, सो सका न चिन्तन
प्राणों को आकुल कर देता
अब भी सपनों का आवाहन
नवजीवन का अभिनन्दन
करता यह मरघट-सा सूनापन

अमित खगों के पंख लगाकर
जग के सारे कंठ चुराकर
गाती उड़ती रात जा रही
दूर क्षितिज के सूने पथ पर
लाने को नूतन प्रभात की
किरणों का स्वर्णिम सम्मोहन

दिन की उथल-पुथल औ' हलचल
ग्राम-नगर का जड़ कोलाहल
इतना ही कर्तव्य नहीं है
और नहीं जीवन का संबल

जन्म - मरण दिन - रात - सरीखे
हैं अनन्त जीवन के साधन

३—पतझर

जब-जब आता जर्जर पतझर
जीवन-तरुवर करता मर्मर
मर्मर,—उसका विद्रोह मुखर

तरुवर संकल्प नये करता
प्राणों में शक्ति नई भरता
मर-मिटने को आकुल होती
पीले पत्तों की जर्जरता

नूतन विश्वास खड़ा होता
तरुवर की नंगी बाँहों पर

युग-युग के नीड़ उजड़ जाते
जीवन के पंख उखड़ जाते
मिटते तूफानी झोंकों में
जर्जर सारे रिश्ते-नाते

खोजता अकेला मौन पथिक—
तरुवर फिर नूतन कोकिल-स्वर

लेकर संकल्पों का यौवन
तरुवर करता नव स्वप्न-सृजन
जीवन की जीर्ण शिराओं में
लहराते नव शोणित के घन

नूतन वसंत की नव संस्कृति
खोलती सृष्टि के अरुण अधर

जीवन के अगणित नूतन दल
हो उठते डालों पर चंचल
फिर नूतन नीड़, नए पंछी
गाते नवजीवन का मंगल
इस जीवन-जय की लाल ध्वजा
फहराती नीले अम्बर पर

यह जीवन का स्वतंत्र मधुवन
मानता न पतझर का बन्धन
संघर्ष नया, चिर नया सृजन
करता इसका चिर अभिनन्दन
धरती हो बंजर भले, मगर
जीवन के प्राण सदा उर्वर

•

श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी

निर्माण

जेल की दुर्ल्लङ्घ्य चहारदीवारी को भी मानव कभी-कभी लाँघ जाता है। अन्तर का अवसाद जब तन-मन को मथने लगता है, तब कितनी ही अकल्पित और अनहोनी घटनाएँ हमारे इर्दगिर्द घटने लगती हैं। मेनका का शरीर घर के आँगन में खड़ा है; लेकिन उसके प्राण घर की चहारदीवारी को लाँघकर सामने दीखनेवाले धूमिल क्षितिज पर मँड़रा रहे हैं। नीले आसमान के तारों मे उसका मन उलझ गया है। लेकिन आसमान के तारों में उलझकर भी वह अपने छोटे-से घर को फिर-फिर देख रही है।

इस घर में आकर—इस घर की चहारदीवारी में बन्द होकर—वह उस भौरे की तरह हो चुकी है, जो कमल के सौन्दर्य और पराग पर मोहित होकर रस-पान करने के लोभ में इतना तन्मय हो जाता है कि कमल की पंखड़ियाँ धीरे-धीरे बन्द होने लगती और उसे रात-भर के लिए बन्दी बना लेती हैं। कब सन्ध्या हो गई, कब वायु के झकोरों के स्पर्श से वह वंचित हो गया और कब कमल की सुन्दर पंखड़ियाँ उसे बन्दी बना चुकीं, इसकी उसे कोई सुधि नही रह जाती।

लेकिन कमल की पंखड़ियों में बन्द हुआ भौंरा, रात बीत जाने पर, प्रातः-सूर्य के आते ही, बन्धन-मुक्त हो जाता है। जेल की चहारदीवारी के भीतर बन्द रहनेवाला बन्दी भी, कैद की अवधि समाप्त होने पर, अथवा बीच में ही छटपटाकर, मुक्त हो जाता है। परन्तु यह मेनका? वह तो घर की चहारदीवारी में, गृहस्थी के माया-मोह में, जहाँ एक बार बन्दिनी हुई नहीं कि फिर कभी उसके मुक्त होने की कहीं कोई आशा नहीं—सम्भावना नहीं। अब तो उसकी मुक्ति शायद तभी होगी जब इस दुनिया से कहीं बहुत दूर उसके प्राण-पखेरू उड़ जायँगे।

मेनका को स्वयं आश्चर्य होता है। बन्दिनी होने की यह भावना उसके मानस-तट पर, समुद्र की उमड़ती-गरजती-सी लहरों की तरह, आखिर क्यों रह-रहकर आजकल टकराने लगी है? कभी-कभी उसका चेतन मन भीतर-ही-भीतर कह उठता है—'ओ मेनका, तू यह सब क्या सोचने-विचारने लगी है?' और, मेनका अपने अन्तर के इसी प्रश्न-चिह्न को लेकर घण्टों उलझी रहती है—अपने जीवन-पृष्ठों को पढ़ने का फिर-फिर यत्न करती है; लेकिन इस प्रश्न का उत्तर उसे नहीं मिलता। इस मानसिक व्यतिक्रम के विश्लेषण में वह जितना गहरा उतरती है, उतना ही विषाद उसके पल्ले पड़ता है। वह समझ नहीं पाती कि इसके लिए वह स्वयं दोषी है अथवा उसके स्वामी की झुँझलाहट! और, स्वामी की झुँझलाहट के लिए आज का युग दोषी है अथवा युग की समस्याएँ।

जीवन के सोलहवें वसन्त के साथ मेनका ने इस गृह में कदम रखा था। यौवन की रंगीनियाँ उसके तन-मन को महलातीं और स्वामी की स्नेह-धाराएँ उसे निरन्तर दुलरातीं। वसन्त के आते ही जिस प्रकार सारी प्रकृति हरी-भरी और पल्लवित-पुष्पित होकर गर्वीली बन जाती है, उसी प्रकार मेनका भी अपने-आपमें फूली न समाती। दो साल के भीतर ही उसने गोदी का वरदान पाया और पुत्र का मुख-दर्शन कर अपने-आपको धन्य समझा। जीवन की डगर पर वह अपने सहयात्री के साथ हँसी-खुशी का स्पर्श करते आगे बढ़ती चली। लेकिन माल के पत्थर जिस प्रकार थोड़े-थोड़े अन्तर पर यात्री को मिलते और उसे यह समझने का अवसर देते हैं कि कितनी यात्रा समाप्त हो चुकी है, ठीक उसी प्रकार प्रति दूसरे वर्ष मेनका की गोद भरने लगी!

समय के अतिक्रमण के साथ-साथ मेनका की तरुणाई न जाने कहाँ विलीन होती गई! जहाँ किसी दिन वह अपनी गोद भरने की आशा से हर्षोत्फुल्ल हो उठती थी, अब इसका आभास पाते ही मन-ही-मन काँप उठती। उसके मन में कहीं कोई कामना नहीं रह गई थी कि सन्तान किसी लता के फूलों की तरह उसकी गोद में इस प्रकार भरती जाये। तीन-तीन चार-चार बच्चों की देख-रेख करना

उसके पूछ की बात नहीं थी। घर में कोई दूसरी सयानी महिला होती, तो सम्भव है, उसे कुछ सहारा भी मिल जाता। लेकिन सास-ननद इस गृहस्थी में कहीं कोई न था। उसके अकेले कन्धों को ही घर-गृहस्थी का सारा भार सँभालना पड़ता, बच्चों की देख-रेख करनी पड़ती और स्वामी की सारी सेवा-टहल भी।

वह परेशान रहती कि वह क्या करे और क्या न करे। बच्चों की देख-रेख करती है, तो घर-गृहस्थी का सारा काम पड़ा रह जाता है। समय पर चाय नहीं बन पाती, अथवा भोजन तैयार होने में तनिक-सी देर हो जाती, तो पति का पारा इतना चढ़ जाता कि उसे उतारने की कोशिश में उसका तन-मन एक अप्रकट खीझ से भर उठता। वह सोचती कि सन्तानोत्पत्ति के लिए क्या वह अकेली ही उत्तरदायी है? लेकिन पति का रुख ऐसा ही मालूम पड़ता है कि वही इसके लिए उत्तरदायी है! दो-चार बार उसे ऐसा लगा कि पति से वह साफ-साफ कह दे—'जिस सन्तान के कारण घर-गृहस्थी का काम-काज समय पर नहीं हो पाता और परिणामतः तुम्हारा पारा इतना चढ़ जाता है, उसके लिए मैं अकेली दोषी नहीं, तुम्हारा भी उतना ही दोष है जितना मेरा; बल्कि मुझसे अधिक दोषी तुम्हीं हो!' पर न जाने क्यों, यह सब वह कह नहीं पाती। एक मर्यादा और नारी-सुलभ लज्जा उसका मुँह बन्द किये रहती है। हाँ, इस सिलसिले में उसने एकाध बार इतना अवश्य कह दिया है—'रात-दिन का कलह अच्छा नहीं होता। घर में अकेली हूँ और सारा काम समय पर कर नहीं पातीं। एकाध धाय अथवा कोई लड़का नौकर रख लिया जाय, तो यह सब परेशानी दूर हो जाये।'

'कह देना सरल है मेनका!' जगदीश ने खिन्न होते हुए कह दिया था—'आज का युग इतना बदल चुका है कि नौकर सीधे बात नहीं करते। रुपये की मानों इन गरीबों को भी कोई जरूरत नहीं रह गई। बर्त्तन माँजनेवाली जो महरी मिल गई है उसे ही गनीमत समझो। गत युद्ध ने मानव को कहीं का नहीं रहने दिया। युद्ध तो समाप्त हो गया; लेकिन मानव की परेशानियाँ और भी अधिक बढ़ती जा रही हैं। फिर महँगी के नाम पर ये नौकर जितना हमसे माँगते हैं, उतना हम दे भी तो नहीं सकते। हमें स्वयं जब महँगी के नाम पर चौगना पैसा मिले, तभी तो हम नौकरों को चौगुना दे सकेंगे न! लेकिन हमें कौन देता है इस अनुपात में?'

यह व्याख्यान सुनकर मेनका को क्षण-भर के लिए ऐसा लगा कि वह स्पष्ट कह दे—'जब ऐसा हम नहीं कर सकते तो परिस्थिति को समझते हुए घर-गृहस्थी के काम में देर-अबेर हो जाने पर अपने मन को थोड़ा संयत तो रख सकते हैं'। लेकिन यहाँ तो यह हाल है कि जरा-सी देर हुई नहीं कि फट पड़े मोटर के रबर-

टायर की तरह और बरस पड़े सावन-भादों की झड़ी-जैसे। मेनका चुप रह गई। उसने कुछ न कहना ही ठीक समझा।

नीले आसमान के तारे स्निग्ध मुस्कराहट से अन्धकारपूर्ण दुनिया को देख रहे थे। मेनका के अन्तर्मन ने स्वीकार किया कि दुनिया की परेशानियों पर ही शायद ये जगमग सितारे हँस रहे हैं। और, पास-पड़ोसवाले भी तो कदाचित् इसी तरह मेनका के छोटे-से परिवार की उलझनें और उलझनों के कारण उत्पन्न कलह देख-देखकर हँसा करते हैं। लेकिन दूसरों पर हँसना सरल है—बहुत सरल। जबतक स्वयं किसी परेशानी से मानव अपना सिर नहीं टकराता, तबतक वह समझ ही कैसे सकता है कि परेशानियों की काली छाया कितनी भयावह होती है।

इसी बीच मेनका ने देखा कि हँसते सितारों में से एक सितारा अचानक ही टूटकर पृथ्वी की तरफ गिर रहा है और पृथ्वी पर गिरने के पहले ही वह अदृश्य भी हो गया। पता नहीं, किस खाई-खन्दक अथवा गहरे सागर में वह तारा गिरा और अपना अस्तित्व खो बैठा। एक धीमी-सी ठण्ढी आह मेनका के मुँह से अचानक निकल पड़ी। अब उसने ध्यान से देखा कि हँसनेवाले सितारों का क्या हाल है। उसे जान पड़ा कि जहाँ से वह एक तारा टूटकर धरती पर गिर पड़ा है, वहाँ के सभी सितारों की जगमगाहट धूमिल-सी हो उठी है। तो क्या इन सितारों में भी अपनों के प्रति सहानुभूति और माया-ममता रहती है? मेनका की वह धारणा सबल हो उठी, जो कुछ क्षण पहले उसके मानस में उद्भूत हुई थी—'दूसरों पर हँसना सरल है—बहुत सरल। जबतक स्वयं किसी परेशानी से मानव का सिर नहीं टकराता, तबतक वह समझ ही कैसे सकता है कि परेशानियों की काली छाया कितनी भयावह होती है!'

पास-पड़ोसवाले जो मेनका की गृहस्थी का कलह देख-सुनकर उस पर हँसते हैं, उनके अमंगल की एक अप्रकट-सी रेखा उसकी आँखों के सामने खिंच गई!—'आसमान के तारों की तरह इन पड़ोसियों के घर में भी क्या किसी अमंगल का सूत्रपात होनेवाला है? भगवान् न करे, किसी पड़ोसी को इस प्रकार अप्रत्याशित अमंगल का सामना करना पड़े। ये लोग मुझपर हँसते हैं, हँसा करें। लेकिन मझे इनपर हँसने की आकांक्षा नहीं।' फिर उसके मन में आया कि उसका अपना जीवन प्रारम्भ से ही तो ऐसा नहीं रहा कि कोई उस पर हँस सकता। उसका प्रारंभिक जीवन तो ऐसा था कि देखनेवालों को ईर्ष्या होने लगती थी। सोने के दिन और चाँदी की रातें उसके दाम्पत्य जीवन में अनेक वर्षों तक बनी रही थी। उषा की अलसाई हुई लाली में वह अपनी आँखें खोलती और संध्या की मादक वेला में, रात्रि की सुनसान घड़ियों को जागरित और मुखरित करने के लिए,

सपना संसार करती थी। मिल गया उल्लास उसके प्राणों में वीणा की झन-झनाहट बनकर, आनन्द सुख का सागर उसके तन-मन में आलोड़ित रहता और संसार के सारे सुखों को वह अपनी सीमित-सी परिधि में साकार देखती। लेकिन, आज उसके सुखी जीवन में जो यह व्यतिक्रम आ गया है, स्वामी के स्नेह में जो कमी दीखने लगी है, और उसका मन जो इस प्रकार उचटा-उचटा-सा और बिखरा-बिखरा-सा रहने लगा है, इसके लिए न तो वह अपने पति को दोषी मानती है, न स्वयं को। सन्तानोत्पत्ति का जो नियमित-सा क्रम चल पड़ा है, इसे भी वह अपने दुर्भाग्य का चिह्न नहीं मानती। वह जानती है कि जिन घरों में अपार सम्पत्ति लहराती है, वे घर भी सन्तान के अभाव में किसी मरुस्थल से कम उत्तप्त नहीं रहते। सन्तान-प्राप्ति के लिए मानव कितना-क्या नहीं करता। विशाल मरुस्थल में जिस प्रकार हरित भूमि को देखकर श्रान्त पथिक के मन में आशा का एक संचार होने लगता है—सन्तोष का प्रादुर्भाव होने लगता है—प्रसन्नता की तरंगें मानस में उमड़ने लगती है, उसी प्रकार सन्तान पाकर गृहस्थ को भी हार्दिक आनन्द का अनुभव होता है। यह बात दूसरी है कि सब लोगों की परिस्थितियाँ एक-सी नहीं होतीं, और परिस्थितियों की काली छाया में मानव इस सन्तान को भी अपने दुःखों का कारण समझ बैठता है। गृहस्थी के खर्च जब आसानी से पूरे नहीं हो पाते, तब मानव का ऐसा भ्रान्त हो जाना स्वाभाविक-सा हो जाता है। यदि ऐसा न होता, बंगाल के अकाल में कितनी ही माताएँ अपने जिगर के टुकड़ों को मुट्ठी-भर अन्न पर हरगिज न बेच सकती। लेकिन उन माताओं के हृदय में अपने अबोध बच्चों को बेचते समय जिस पीड़ा का हाहाकार प्रतिध्वनित हुआ होगा, उसे दुनियावाले कब समझ सके! अब मेनका भूलकर भी अपने दुःख का कारण इस सन्तान को कभी न समझेगी—हाँ, कभी नहीं।

मेनका के अन्तर की नारी दार्शनिक बनकर इस प्रश्न पर आज उत्तरोत्तर गहरी उतरती जा रही थी कि इसी बीच उसके सोते हुए बच्चों में से एक अचानक रो उठा। उसकी दार्शनिक विचार-धारा छिन्न-भिन्न हो गई। वह तेज कदमों से बच्चों के पास गई। रोते बच्चे के सिर पर धीरे-धीरे अपना हाथ सहलाया और उसे पुनः सुला देने के लिए धीमे-से स्वर में कुछ गुनगुनाने लगी। दो-तीन मिनटों के भीतर ही वह बच्चा फिर सो गया। इसी समय, बाहरी दरवाजे पर किसीने होले-होले दस्तक दी। मेनका ने घड़ी पर दृष्टि दौड़ाई तो पता चला कि ग्यारह बज रहे है। वह समझ गई कि उसके पति अपने कार्यालय से लौटकर आ गये हैं। दरवाजे की तरफ वह चुपचाप बढ़ गई। इसी बीच जगदीश ने बाहरी दरवाजे पर फिर एक दस्तक दी और पुकारा—'मेनका'!

'श्रा रही हूँ।' कहते-कहते वह दरवाजे पर जा पहुँची श्रौर दरवाजा खोल दिया।

जगदीश ने भीतर कदम रखा श्रौर दरवाजा पूर्ववत् बन्द कर दिया। फिर मेनका के साथ-साथ घर में जाते हुए कहा जगदीश ने—'मैं तो समझ रहा था, तुम सो गई होगी। इसीलिए श्रावाज भी लगा दी।'

'नहीं, मैं श्राज श्रवतक जागती ही रही।'

'क्यों ?' जगदीश ने श्रपने कपड़े वदलते हुए पूछा।

'एक पत्रकार यदि श्रपने कार्यालय में, महीने में कम-से-कम पन्द्रह दिन श्राधी-श्राधी रात तक जागकर काम कर सकता है, तो उसकी पत्नी क्या एक दिन भी नहीं जाग सकती ?'

प्रश्न का उत्तर प्रश्न में ही पाकर जगदीश को वहुत भला लगा। इस उत्तर में मेनका के मन की जो प्रसन्नता श्रभिव्यक्त हो उठी थी, उसे समझ जगदीश को श्रव्यक्त सन्तोष हुश्रा। इधर कई महीनो से जगदीश देख रहा था कि तनिक-तनिक-सी वात पर उसके झल्ला उठने के कारण मेनका की प्रसन्नता न जाने कहाँ तिरोहित होती जा रही थी। कार्यालय से थका-माँदा लौटकर घर मे जिस स्निग्ध वातावरण की वह श्राशा करता था, वह मेनका की रुक्ष वातों से काफूर हो जाया करता था। वह जानता था कि दिन-रात तनिक-तनिक-सी वात पर उसके झल्ला उठने का ही यह परिणाम है। लेकिन इतना समझने पर भी वह श्रपने-श्रापको संयत नहीं रख पाता था। ऐसी दशा में श्राज मेनका का यह वदला हुश्रा रुख जगदीश को वहुत भला लगा। कहा उसने—'क्यों नहीं! वल्कि यह कहो कि जरूरत पड़ने पर तुम मेरे कार्यालय में जाकर मेरा काम भी चला सकती हो।'

'यह दावा तो मैंने श्राज तक नहीं किया।' मेनका ने गम्भीर मुद्रा से कहा।

'शायद इसलिए कि सन्तान······।'

'सन्तान!' वीच में ही रोक दिया मेनका ने—"सन्तान का नाम इन तनिक-तनिक-सी वातों पर हमें नही लेना चाहिए। सन्तान हमारे किसी काम में वाधक नही। उसे पाकर हमें सुखी होना चाहिए। यह हमारी वहुत वड़ी कमजोरी है कि हम तनिक-तनिक-सी वातों के लिए सन्तान को श्रपने कष्टों श्रौर दुःखों का कारण समझ वैठते है।"

मेनका की इस परिवर्तित विचार-धारा का कारण जगदीश की समझ में न श्राया। इसीलिए उसने मेनका को सदा की भाँति खिझाते हुए कहा—"तव तो सन्तति-निरोध की भी श्रव श्रावश्यकता नहीं। समझ का ही फेर जव है, तव क्यों हम सन्तानोत्पत्ति को श्रपने दुःख का कारण समझें ?"

"नहीं, आपकी बात से मैं सहमत नहीं, सन्तति-निरोध की मैं विरोधिनी नहीं, किन्तु किसी औषध या [illegible] की मदद लेकर ऐसा करने का समर्थन भी मैं नहीं करूँगी। आजकल यदि हम संयम सीख लें, तो यह समस्या अपने-आप हल हो जाय और तुम्हारी बहुत-सी परेशानियाँ दूर हो जायँ।"

जगदीश समझ गया कि मेनका ने जिस आत्म-संयम की बात छेड़ी है, वह शायद महात्मा गान्धी की विचार-धारा से प्रभावित होने का ही परिणाम है। इधर तीन-चार दिनों से मेनका के हाथों में उसने महात्मा गान्धी की आत्म-कथा देखी भी थी। इसीलिए कहा उसने—"मालूम होता है, महात्मा गान्धी की 'आत्म-कथा' से तुम बहुत प्रभावित हुई हो मेनका !"

"तुम्हारा अनुमान गलत नहीं है। संयमपूर्वक रहने से एक वही नहीं, बहुत-सी ऐसी परेशानियों से हम मुक्त हो सकते हैं, जो हमारे जीवन को व्यर्थ ही कष्टकर और दुःखद बनाये रहती हैं। प्रकृति किसी के साथ दया अथवा पक्षपात करना नहीं जानती। हम जो करेंगे, उसका परिणाम हमें भोगना ही पड़ेगा। परिणाम की मिठास अथवा तिक्तता के लिए हम स्वयं उत्तरदायी हैं। यह हमारा अज्ञान है कि अपने कर्मफल के लिए भाग्य को अथवा अन्य किसीको हम दोषी समझने लगते हैं।"

"तो यह कहो कि अब संन्यासिनी बनकर तुम रहोगी।"

"यह भी कहो कि मेरे साथ तुम्हें भी संन्यासी बनकर रहना होगा।"

"और यदि इसके लिए मैं तैयार न हो सकूँ तो ?"

"तो यह हमलोगों का सबसे बड़ा दुर्भाग्य होगा।"

"हमलोगों का मेनका, अथवा सिर्फ मेरा ?"

मेनका के अन्तर की जागरूक नारी ने कहा—"शरीर जहाँ रहेगा, वहीं छाया भी रहेगी न ! तुम यदि संयमपूर्वक न रहोगे, मेरा संयम-असंयम सब बराबर है।"

'तुम सच कह रही हो मेनका !'—जगदीश ने पुलक-विभोर हो, रात्रि के उस सन्नाटे में मेनका को अपने वक्ष से सटाते हुए कहा—'तुमने आज मार्ग-दर्शिका बनकर मुझे मानवोचित कर्त्तव्य का ज्ञान दिया है। मैं अनुभव करता हूँ कि जीवन की परेशानियाँ अपने-आप नहीं आती। हम स्वयं उनका आवाहन करते हैं। लेकिन अब हम यह गलती हरगिज न करेंगे। हमारा निर्माण दूसरे नहीं, हम स्वयं कर सकते हैं।"

मेनका को ऐसा प्रतीत हुआ कि गृहस्थी के माया-मोह में रहकर भी वह अपने-आपको अब बन्दिनी नहीं अनुभव करेगी। जेल की दुर्लङ्घ्य चहारदीवारी की

तरह आज मानों वह अपनी चिन्ताओं की चहारदीवारी को भी सहज ही लाँघ चुकी है। स्वामी के वक्षःस्थल पर अपना सिर टेके हुए वह चुपचुप रत्न-खचित आकाश का सौन्दर्य देख रही थी। युग-पुरुष गान्धी के प्रति वह एक अव्यक्त आभार से भर-भर उठती थी, और स्वामी के इस दृष्टिकोण का—परिवर्तित दृष्टिकोण का—प्रसन्नता के आवेग में अनायास झर पड़नेवाले अश्रुबिन्दुओं की फुलझड़ियों से वह अपूर्व अभिषेक कर रही थी।

●

डॉक्टर कमल कुलश्रेष्ठ, एम॰ ए॰, डी॰ फिल्॰

हिन्दी : हिन्दू-धर्म की भाषा

ईसा की दसवीं सदी में हिन्दुस्तान के इतिहास में बहुत-सी घटनाएँ एक साथ घटी। हिन्दुस्तान के धार्मिक, राजनीतिक, दार्शनिक, सामाजिक और साहित्यिक इतिहास में हमें इस समय एक बड़ी उथल-पुथल दिखलाई पड़ती है। सामी और ईरानी मुल्कों से मुसलमान हिन्दुस्तान मे आये। बौद्धधर्म परिवर्त्तन का एक ऐसी स्थिति से गुजरा जहाँ पर वह हिन्दू-धर्म से किन्ही भी शर्तो पर सुलह करने को तैयार हो गया था। हिन्दू-दर्शन के सबसे बड़े आचार्य शंकर देश में अपने अद्वैतवाद की धूम मचा चुके थे। विचारों में गुलाम हम हिन्दुस्तानी, दर्शन के जो नये सिद्धान्त खोज रहे थे, उनको किसी-न-किसी तरह से शंकर का या शंकर के निकट का ही सिद्धान्त कहकर चलाना चाहते थे। शंकर को मरे अभी एक सौ साल भी न हुए थे कि शंकर के प्रदेश से ही एक और विचारक का जन्म हुआ। उसने श्रीमद्भागवत-पुराण द्वारा शंकर के ज्ञान-मार्ग का जड़ से खण्डन किया और सारे मुल्क में भक्ति-मार्ग फल चला। हाथ में तलवार और बगल में कुरान लेकर मुसलमान सामन्तों और सूफियों ने मुल्क मे पैर जमाना शुरू किया। कुछ इस्लाम के असर से, और कुछ रामानन्द के स्वतन्त्र विचारों की वजह से, हिन्दू-समाज की जाति-व्यवस्था की नीव डगमगा उठी। जिस मजहब पर ब्राह्मण अपना हर तरह का पैतृक हक समझते थे उसको समझने की चाह हर हिन्दू के दिल में जगी। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—तीनों वर्ण इस बात की कोशिश में थे कि मजहब किसी तरह उनकी भी चीज बन जाये। सूफी सन्त उनको हिन्दी मे कुरान की शिक्षाएँ समझा रहे थे। वेद-पुराणों को भी हिन्दी में ही समझने की चाह उनके मन में जगी। ब्राह्मण भी डरे हुए थे। अभी तक उन्हें व्रात्यो से लड़ना था, लेकिन ईसा की दसवी सदी आते-आते व्रात्य मजहब वैदिक बनने लगे थे। हिन्दुस्तान में

अनुवाद नदी में बहा दिया! कहा जाता है फिर भी २८–२६ परिच्छेद किसी तरह से बच गये और आज वे हमें मिलते हैं। पता नहीं, इस कहानी में कितनी सचाई है; लेकिन इससे उस समय के ब्राह्मणों के, हिन्दी के प्रति, एक आंशिक दृष्टिकोण का भलीभाँति पता चलता है। अष्टछाप के और कवियों ने भी हिन्दी को ही अपनी भाषा बनाया। यद्यपि वल्लभाचार्य का तो कोई भी प्रामाणिक ग्रन्थ हमें हिन्दी में नहीं मिलता, तथापि उनकी शिष्य-मंडली हिन्दी के ही रंग में रँगी है।

रामभक्त तुलसीदास ने अपने राम-पुराण 'रामचरित-मानस' की स्तुतियाँ तो यद्यपि देववाणी में ही लिखी हैं, तथापि दूसरे हिस्से सारे के सारे भाषा में हैं; उनके दूसरे ग्रन्थों की भाषा भी हिन्दी ही है। उनके 'मानस' का बालकांड हमारे सामने यह बात बहुत साफ कर देता है कि हिन्दी में लिखना उस समय के पंडितों को स्वीकार न था। गोस्वामीजी अपने 'मानस' में दो ही दोष बतलाते हैं—"भाषा भनिति मोरि मति थोरी, हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।" लेकिन उन्हें सन्तोष है—"यहि महँ रघुपति नाम उदारा, अति पावन पुरान स्रुतिसारा। मंगल-भवन अमंगल-हारी, उमा-सहित जेहि जपत पुरारी।" और, इसीलिए उन्होंने एक दूसरे स्थान पर कहा है—"सपनेहुँ साचेहुँ मोहि पर, जो हर-गौरि पसाउ; तो फुर होउ जो कहउँ सब, भाषा-भनिति-प्रभाउ।" एक तीसरे स्थान पर वह यह भी बतलाते हैं कि रामकथा को हिन्दी-भाषा में लिखने का एक कारण उनका निजी भी है—"भाषाबद्ध करब मैं सोई, मोरे मन प्रबोध जेहि होई।" कृष्ण की अनन्य उपासिका 'मीरा' ने भी हिन्दी-भाषा को ही अपनाया था। मीरा की कोई रचना हमें संस्कृत में नही मिलती।

इस प्रकार मध्ययुग के आन्दोलन में इनकलाब (क्रान्ति) की जो बहुत-सी आवाजें उठाई गईं उनमें एक हिन्दी को हिन्दू-धर्म की भाषा बना देने की भी थी। यह आवाज बेकार नहीं गई, वरन् कामयाब हुई। बेकार जाने का खास सवाल भी सामने नही उठा। जमाने की माँग थी और परिस्थितियों से सुलह करने की मजबूरी। इतिहास अपने चले हुए रास्ते पर दुबारा नहीं लौटता। यह बिलकुल नामुमकिन बात थी कि सभी हिन्दू संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित बन जाते। खुशी की बात है कि आसमान के इस सितारे को तोड़ने की कोशिश नहीं की गई। और, इस बार जब देवभाषा जनसाधारण की धर्म-भाषा के पद से हटा दी गई तब फिर दुबारा उसे वह पद न मिल सका—हिन्दी के वैष्णव और निर्गुनिया कवि बराबर हिन्दी को ही अपनाये रहे। बौद्धों की तरह उन्होंने फिर से संस्कृत के आगे अपना सिर नहीं टेका।

आधुनिक काल में, जब स्वामी दयानन्द ने आर्य-समाज का प्रचार किया,

हिन्दी-भाषा ही उनकी माध्यम बनी। आर्य-समाज का मेरुदण्ड 'सत्यार्थ-प्रकाश' हिन्दी-भाषा में ही है। स्वामीजी की अन्य सभी कृतियाँ भी हिन्दी में ही हैं। हमें यह न भूल जाना चाहिए कि आर्य-समाज वेदों को आज अपने आस्था-ग्रन्थ मानता है। स्वामीजी ने हिन्दी में वैदिक साहित्य का अनुवाद भी किया। हिन्दी धार्मिक भाषा के गौरवास्पद पद से अपदस्थ नही की गई। और, इसकी वजहें भी हैं। मँझले जमाने में ही, ईसा की दसवीं सदी से, हिन्दी आम जनता की भाषा बन चुकी थी। हिन्दू-धर्म दिन-दिन जनता से हटता जा रहा था। श्रद्धा और विश्वास की जगह तर्क ले रहा था। संस्कृत के धर्मग्रन्थों पर एकाधिपत्य रखनेवाले ब्राह्मण आस्था-पात्र नहीं बचे थे। जनता में समझदारी बढ़ गई थी। ब्राह्मणों की निरंकुश ठेकेदारी उसे मंजूर नहीं थी। यद्यपि तुलसीदासजी ने कहा था—'पूजिय विप्र सकल गुन हीना' तथापि हिन्दू-समाज अपनी जिन्दगी से ठठोली करने को तैयार नही था। यद्यपि धार्मिक संस्कृति के संस्कृत-ग्रन्थों पर अपनी दृढ़ सत्ता कायम रखनेवाले ब्राह्मणों पर हिन्दू-जनता की श्रद्धा तो बहुत दिनों तक रही और थोड़ा-बहुत आज भी है, तथापि वह दिन-दिन मिटती गई और मिटती जा रही है। *

लोक-प्रियता को नजर में रखकर ही स्वामी दयानन्द ने भी हिन्दी को अपनाया था। स्वामीजी तुलसी, सूर, नन्ददास, कबीर आदि की भाँति एकमात्र मध्यदेश के व्यक्तित्व न थे; उनके सामने सारा हिन्दुस्तान था और उन्होंने चाहा था कि हिन्दी सारे देश की धार्मिक भाषा हो। अब तो जमाना ही बदल रहा है। धर्म अपनी अहमियत (महत्ता) दिन-दिन खोता जा रहा है। हिन्दुस्तान की आजादी धार्मिक संकीर्णता की हस्ती मिटाने में मददगार ही साबित हुई है। लेकिन एक बात बिलकुल निश्चय है कि हिन्दू-धर्म अगर फिर कहीं चेता और पनपा, तो निकट भविष्य हिन्दी के अतिरिक्त किसी दूसरी भाषा को हिन्दू-धर्म की भाषा नहीं बना सकता।

•

* इसमें अँगरेजी-शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता के बढ़ते हुए प्रभाव का दोष तो है ही, स्वयं ब्राह्मणों का भी दोष है। वे यदि अपने उदार पूर्वजों का आदर्श ग्रहण कर अवस्थानुकूल व्यवस्था का महत्त्व समझने लगें तो हिन्दू-जाति में उनका सिंहासन अब भी अक्षुण्ण बना रहेगा। —सं०

प्रोफेसर जगन्नाथप्रसाद मिश्र, एम०ए०

कल्याण का मार्ग

सर्वनाशी घृणा-विद्वेष एवं हिंसा-प्रतिहिंसा के विकराल वातावरण के बीच आज बारम्बार मन में यह प्रश्न उठ रहा है—हम किधर जा रहे हैं? जिस स्वाधीनता के लिए हमने इतने दिनों तक कठोर साधना की है वही जब हमें सफल-मनोरथ करने के लिए हमारे द्वार पर आ पहुँची है तब हम अपना सर्वनाश करने पर तुल पड़े हैं! एक ओर स्वाधीनता के मन्दिर का द्वार उन्मुक्त हो चुका है और दूसरी ओर हमारे वैर-विरोध का अन्त नहीं! एक ही देश, एक ही प्रान्त, एक ही नगर और एक ही ग्राम के रहनेवाले लोग जहाँ परस्पर वैमनस्य धारण किये रहेंगे, वहाँ स्वाधीनता किस तरह टिक सकेगी? देशवासियों में जहाँ प्रेम-भाव न हो, जहाँ एक के लिए दूसरे के दिल में दर्द न हो, जहां गृह-परिवार की संकीर्ण स्वार्थ-परिधि से ऊपर उठकर समाज एवं राष्ट्र के लिए हजार-हजार मनुष्यों के मन में सानन्द जीवन-बलि देने की भावना न हो, वहाँ क्या स्वाधीनता स्थायी हो सकती है? इन मतावलम्बी भारतीय जाति को हम देशात्मबोध की भावना द्वारा अनुशासित करके ही तो एक महाजाति या 'नेशन' के रूप में परिणत कर सकते हैं? इस देशात्मबोध के बिना क्या शक्ति का स्रोत प्रवहमान हो सकता है? और शक्ति के बिना क्या स्वाधीनता की रक्षा संभव हो सकती है? समस्त विरोध-वैमनस्य से परे क्या किसी ऐसे महान् आदर्श को हम अपने जीवन का ध्रुवतारा नहीं बना सकते, जिसके उज्ज्वल आलोक में हमें सत्पथ का संधान मिल जाय और हम एक शक्तिशाली दुर्जय जाति के रूप में जयलक्ष्मी का अनुग्रह प्राप्त करें? वह कौन-सा आदर्श है जो हमारे समस्त अहंकार, हृदय-दौर्बल्य एवं स्वार्थपरता को दबाकर हममें एकप्राणता एवं आशा का संचार कर दे—हमें अविच्छेद्य ऐक्य-सूत्र में परस्पर ग्रथित कर दे और हमें देशगतप्राण बना डाले? यह है प्रेम का आदर्श।

जिस देश में एक हजार वर्ष से हिन्दू-मुसलमान एक साथ रहते चले आये हैं, पड़ोसी की तरह एक-दूसरे के सुख-दुःख में और एक-दूसरे के खेल-कूद एवं पर्व-त्योहार में शामिल होते आये हैं, उस देश में कुछ ही साल के अन्दर कौन-सी ऐसी बात हो गई कि जिससे यह मिलनभूमि मल्ल-भूमि में परिणत हो गई? जिस महातीर्थ में हम यात्रियों का मधुर संगीत सुना करते थे वहाँ हम मनोमालिन्य के कोलाहल के बीच सर्वनाश का हाहाकार सुना करते हैं—वैर-विरोध की स्मृति को

अहर्निश मन में जाग्रत रखकर हम जीवन को अभिशप्त बना रहे हैं! अतीत की स्मृतियों का मन में पोषण करते हुए वर्त्तमान को विरस एवं विषादपूर्ण तथा भविष्य को अन्धकारमय बना रहे हैं! इस प्रकार के वातावरण में क्या हम मुक्ति के आनन्द का अनुभव कर सकेंगे? जिस स्वराज्य का अबतक हम स्वप्न देखते आ रहे थे उसे आज वास्तविक रूप देने के मंगलमुहूर्त्त में ही तो हमें एक नूतन समाज की सृष्टि करनी है—वह समाज, जिसकी इमारत प्रेम, न्याय और स्वाधीनता की नींव पर खड़ी होगी—जिसके स्तर-स्तर में न्याय एवं सद्भाव, सहानुभूति एवं समवेदना की भावना भरी होगी। भारत के राजनीतिक आकाश में हिन्दू-मुस्लिम-विरोध आज काले बादल की तरह छाया हुआ है। इसके घनान्धकार ने स्वाधीनता-सूर्य को आच्छन्न कर लिया है। स्वाधीनता देवी के मन्दिर का प्राङ्गण रक्तधारा से कलुषित है। ऐसे संकट-काल में यदि हम सावधान होकर अपनी शक्तियों को राष्ट्रनिर्माण के कार्य में नहीं लगावेंगे, तो निश्चय जानिए कि पराधीनता की दुर्योगमयी रजनी का अवसान और स्वाधीनता का अरुणोदय बहुत समय के लिए टल जायगा तथा राष्ट्र विशृङ्खल होकर अपनी सारी रचनात्मक शक्ति खो बैठेगा। हमारी राष्ट्रशक्ति पंगु-सी हो गई है। पशुवृत्ति और उसकी दानवीय रक्तपिपासा से हम ऐसे ग्रस्त हो गये हैं कि मनुष्यत्व की मर्यादा एवं मानवात्मा की पवित्रता के प्रति हमारे मन में तनिक भी श्रद्धा नहीं रह गई है। कोई ऐसी उच्चतर नैतिक शक्ति आज हमारे जीवन मे नही रह गई है जो इस दानवीय शक्ति को पराभूत करके हमारी मानवीय सद्भावनाओं को उद्दीप्त कर दे। इस नैतिक शक्ति से ही हमारे हृदय में न्याय एवं अनुशासन के प्रति सच्चा अनुराग उत्पन्न होगा—हमारे जातीय जीवन की मुरझाई हुई लता फिर प्रेमजल से सिक्त होकर लहलहा उठेगी। महात्मा गान्धी आज इसी नैतिक शक्ति का उद्बोधन देशवासियों के बीच कर रहे हैं। उनकी यह नैतिक शक्ति है—सत्य और अहिंसा।

गांधीजी का कहना है कि इस नैतिक शक्ति पर विश्वास रखकर ही भारतवासी स्वाधीनता के पथ पर अग्रसर हो सकते है। गांधीजी आज हमें जो वाणी सुना रहे हैं वही हमारी सभ्यता एवं संस्कृति की मर्मवाणी है। भारत के तपोवन से यही वाणी उच्चरित हुई थी। ज्ञानतपस्वी ऋषियों ने बहुत पहले ही जीवन के इस तत्त्व को जान लिया था कि वास्तविक आनन्द उद्दीप्त वासनाओं की पूर्त्ति में नहीं, बल्कि सबके साथ आत्मीयता का सम्बन्ध जोड़ने में है। स्वदेशवासियों के साथ अपनापन का नाता जोड़ने—उनके प्रति संवेदनशील बनने में ही गंभीरतम आनन्द है। स्वार्थपरायण बनकर मनुष्य जब अपनी दुर्वासना की पूर्ति में संलग्न हो जाता है तब उसके जीवन की सारी महिमा म्लान हो जाती है और वह अपने

चारों ओर भेदबुद्धि की ऊँची दीवार खड़ी कर लेता है। मनुष्य आज इस सत्य को हृदयङ्गम नहीं कर रहा है कि मनुष्य के साथ मनुष्य की जो भेद-बुद्धि है—मानवीय आदर्श से राष्ट्रीय आदर्श को महान समझने का जो दम्भ है, वही तो आज मानव-सभ्यता को अभिशप्त बनाये हुए है। यह भेद-बुद्धि ही तो आज धर्म के नाम पर, राष्ट्र के नाम पर, वर्ण के नाम पर मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बनाये हुए है। इस भेद-बुद्धि के कारण ही आज मानव-सभ्यता रक्त-सागर मे निमज्जित हो रही है। यह भेदबुद्धि ही सारे अनर्थो की जड़ है।

मानव-समाज आज बड़ी तेजी से विश्व-बन्धुत्व की ओर अग्रसर हो रहा है। पारस्परिक वैर-विरोध और हिंसा-द्वेष के बीच भी कोई अदृश्य महाशक्ति इसी ओर उसे बल-पूर्वक खींचे जा रही है। युग-युग से जो सब आचार-विचार, अन्धविश्वास एवं कुसंस्कार मनुष्य-मनुष्य और जाति-जाति के बीच भेद-विभेद की संकीर्ण रेखाएँ खींच रहे थे, वे सब आज चूर्ण-विचूर्ण हो रहे हैं—जाति-भेद और वर्ण-भेद के अचलायतन एक-एक कर धराशायी हो रहे हैं। प्रलय की आँधी चल रही है। उसके झोंके में पड़कर हमारे सामाजिक जीवन की सारी संकीर्णताएँ छिन्न-भिन्न होती जा रही है। इस आँधी के प्रचण्ड वेग को कौन रोक सकता है? यह तो विश्वमानव की इस जय-यात्रा के पथ को प्रशस्त बनाने आई है। कुछ समय के लिए हम दकियानूसी विचारों को अपनाये हुए इस जय-यात्रा के मार्ग में भले ही रोड़े अटकाने की कोशिश करे, मगर हमारी कोशिशों के बावजूद भी आँधी का जोर कम नही होगा; क्योकि आज विश्व के मानवमात्र में एकता की अनुभूति हो रही है। इस अनुभूति की वास्तविकता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। व्यक्ति का दु:ख अपनी व्यक्तिगत सीमा लाँघकर समाज की वृहत् सीमा मे, और फिर उससे भी आगे सारे देश की वृहत्तर सीमा में, और अन्ततः एक अदृश्य संयोग-सूत्र द्वारा अखिल विश्व मे परिव्याप्त होकर एक सबल एवं सतेज रूप धारण कर रहा है। इस दुःख की अनुभूति अखिल विश्व के मर्म का स्पर्श करके उसके अन्तर के तारों को झंकृत कर देती है। विश्व-मानवता के इस ज्योतिर्मय भविष्य मे जो विश्वास करनेवाले हैं, जिनके स्वच्छ नेत्रों में अनागत भविष्य का स्वप्न है, जिनके प्राणों में नवजीवन का स्पन्दन है—हृदय में आशा एवं उत्साह है, वे वैर-विरोध की रणभेरी के गर्जन के बीच भी महामिलन की शंखध्वनि स्पष्ट सुन रहे हैं—उस आनेवाले युग के मंगलप्रभात की सुनहली आभा सुदूर क्षितिज मे देख-देखकर प्रेम-पुलकित हो रहे हैं। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने एशिया के राष्ट्रों के प्रतिनिधि-सम्मेलन में आशा की यही अमर वाणी उद्घोषित की है। उन्होंने कहा है—"एशिया मे एक नूतन युग का जन्म होनेवाला है। एशिया की जातियों की

मुक्ति का मंगलप्रभात आसन्न है। इस समय विभिन्न देशों में वैर-विरोध, कलह और गृहयुद्ध के जो शोचनीय दृश्य उपस्थित हो रहे हैं वे प्रसव-पीड़ा के रूप में एक प्रकार से अवश्यम्भावी हैं। इनका सामना तो हमें करना ही होगा और बहादुरी के साथ सामना करके इन पर विजय प्राप्त करने में ही हमारा गौरव है।" एक ओर प्रसव-पीड़ा की तीव्र अनुभूति और दूसरी ओर नवजात शिशु के आगमन की आशा से मुखमण्डल पर स्निग्ध मधुर हास्य की रेखाएँ!

इस नवयुग में महामानव की एकता की अनुभूति ही मानवता का रूप होगी। यही इस युग का अध्यात्म और जीवन-दर्शन होगा। यही मनुष्य का प्रकृत धर्म होगा जो समग्र मानव-जाति के लिए मानव-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित होगा। मनुष्य जिस दिन इस धर्म को अपनायेगा उसी दिन उसे सच्चे सुख और आन्तरिक शान्ति की प्राप्ति होगी। पश्चिम के व्यक्तिवाद ने ही उत्कट व्यक्ति-स्वार्थ को जन्म दिया है। इस व्यक्ति-स्वार्थ ने ही समाज के अन्दर विकट प्रतिद्वन्द्विता की सृष्टि की है, जिससे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से बहुत दूर जा पड़ा है। एक के साथ दूसरे का संघर्ष बढ़ता जा रहा है। एक का हाथ दूसरे के हाथ का स्पर्श न करके तलवार का स्पर्श कर रहा है। अतिनिकट रहते हुए भी हम आपस में अपरिचित-जैसे बन रहे हैं। क्यों? इसलिए कि हम मनुष्य को केवल बाह्य दृष्टि से देखते हैं। आचार-विचार, नीति-रीति, रहन-सहन, पोशाक-पहनाव, अर्चना-उपासना आदि के कारण जो कृत्रिम भेदभाव है, वे ही हमारी दृष्टि में मनुष्य की परख की कसौटी बन जाते हैं। किन्तु इन भेदों से परे जहाँ दो मनुष्यों का परिचय आत्मिक रूप में होता है—जहाँ मन्दिर नहीं, मस्जिद नहीं, दाढ़ी नहीं, शिखासूत्र नहीं, कीर्त्तन नहीं, नमाज नहीं, कांग्रेस नहीं, लीग नहीं; केवल दो आत्माओं का, दो स्निग्ध कोमल नेत्रों का मिलन होता है—वहाँ स्पन्दित होते हैं दो कुसुमकोमल प्राण और उन नेत्रों से विकीर्ण होती है निष्कलंक निर्मल ज्योति। यही तो मनुष्य के साथ मनुष्य का वास्तविक परिचय है। किन्तु, हाय! क्षुद्र स्वार्थ के कारण मनुष्य की यह अन्तर्दृष्टि कितनी धूमिल बन गई है। बिना इस अन्तर्दृष्टि के निर्मल हुए वृहत्तर स्वार्थ की अनुभूति संभव हो सकती है? और, इस वृहत्तर स्वार्थ की अनुभूति के बिना क्या मानव का कल्याण हो सकता है?

मनुष्य आज इस बात को समझने लगा है कि समाज के सुख और कल्याण से उदासीन रहकर वह आत्म-सुख-साधन नहीं कर सकता—समाज-जीवन से विच्छिन्न होकर स्वार्थ-पर जीवन व्यतीत करने में उसका कल्याण नहीं है। उसके लिए आज यह आवश्यक हो गया है कि वह समाज के कल्याण में अपना कल्याण समझे। यह सत्य आज मनुष्य के सामने जिस रूप में प्रकट हो रहा है, उस रूप में आज से पहले

अभी नहीं हुआ था। इस तत्व की व्याख्या करके ही गांधीजी कह रहे हैं—"मैं जिस स्वराज्य का स्वप्न देख रहा हूँ उसमें जाति-भेद और धर्म-भेद नहीं रह जायेंगे—[illegible] और [illegible], सभी और [illegible] नहीं रह जायेंगे।" गांधीजी ने इससे आगे भी एक बात [illegible] का [illegible] नहीं रह जायगा। [illegible] हो गया है। [illegible] शक्ति-नाश का [illegible] है। [illegible] होगा। इसलिए धनिकों की [illegible] मार्ग ग्रहण करें। त्याग और सेवा [illegible] तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।"

मनुष्य को आज सहानुभूति तथा प्रेम की सर्वोच्च शक्ति प्राप्त करनी होगी। इस प्रेम से जीवन का [illegible] होगा। यह प्रेम शक्तिहीन भावुकों का अथवा [illegible] का प्रेम नहीं, बल्कि [illegible] का निर्भीक प्रेम होगा। यह प्रेम मनुष्य को कल्याण के लिए [illegible] की अवज्ञा करने का साहस देगा। यह प्रेम [illegible] करके उसके जीवन को अमृतमय बना देगा। यह प्रेममार्ग ही संसार की मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करेगा।

●

श्रीरतनलाल बंसल

अमर शहीद

नाम था उनका भानुसिंह; किन्तु जब वह बालक ही थे, तभी देखनेवाले कहते—"किसने इसे ऐसा उलटा नाम दिया है? इसका नाम तो चन्द्रसिंह होना चाहिए था। 'भानु' (सूर्य) में जो उत्ताप होता है, वह इसमें कहाँ है? इसमें तो चन्द्र-जैसी शीतलता है। चन्द्रमा में अमृत होता है न? सो बचपन से ही भगवान् ने इसके हृदय में भक्ति का अमृत भर दिया है। बोल भी अमृत-जैसे ही मीठे बोलता है।"

बचपन से ही उन्होंने ऐसी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति पाई थी कि जब उनके अन्य साथी गलियों में धमा-चौकड़ी मचाते होते, तब वह गुरुओं की वाणी में डूबे होते, 'ग्रन्थ साहब' का मनन-श्रवण करते होते या लंगर में जाकर दीन-दरिद्रों को भोजन कराते दीखते। माँ-बाप को भय रहता था कि बच्चा कहीं 'साधू' होकर न निकल जाय, किन्तु जो 'साधू' ही उत्पन्न हुआ है, उसे अब रँगे कपड़े पहनकर संसार में 'साधुत्व' का ढिंढोरा पीटने की क्या आवश्यकता थी?

विवाह हो गया, तो घर-गृहस्थी को भी कुशलतापूर्वक सँभाल लिया। एक दिन उन्होंने सुना कि समुन्दर-पार—अमेरिका में—मजदूरी के अच्छे पैसे मिल जाते हैं। अपनेको पैसे से कितनी ही विरक्ति हो, किन्तु आश्रितों को तो पैसे-पैसे के लिए तंग देखना उनके वश की बात नहीं थी। झट बिस्तर बाँधा और अमेरिका के लिए चल दिये। भगवान् पर भरोसा था, इसलिए किसी भी कार्य में अधिक ऊहापोह उनको रुचता ही नहीं था। अमेरिका में काम भी मिल गया, और वह कुछ ही दिनों में ढाई सौ रुपये मासिक उपार्जन करने लगे। वहाँ जो अन्य साथी पहुँचे, वे हाथों में मुट्ठी-भर रुपये आते ही राग-रंग में डूब गये। वे दिन-भर खेतों में ऐसा परिश्रम करते कि वहाँ की मिट्टी उनके पसीनों से नम हो जाती; पर संध्या होते ही उनका मुख नगर में खुले मदिरालयों की ओर उठ जाता और अपनी जेबें वहीं खाली कर आते। भानुसिंह यह देखते तो उनका हृदय भर आता। वह प्रायः साथियों को समझाते थे। साथी उनके सम्मुख पश्चात्ताप करते, आगे न पीने की प्रतिज्ञा करते; पर जैसे ही गले में चटकन पड़ती, वैसे ही पुनः मदिरालय को चल पड़ते। किन्तु, अकस्मात् वायु का एक ऐसा झोंका आया कि मदिरा के नशे में वाही-तवाही बकनेवाले वे ही युवक देश की चिन्तना-वेदना से उद्वेलित हो उठे। मदिरालय जाना छोड़कर अब वे गुरुद्वारा पहुँचने लगे। दिन-रात वहाँ उनकी बैठकें होने लगीं और स्वदेश को फिरंगियों से मुक्त करके कैसे उसे अमेरिका के समान स्वाधीन और सम्पन्न बना दिया जाय, इसी कठिन कार्य्य के लिए जैसे वे उन्मादित रहने लगे। आज इतने दिन पश्चात् न जाने किसने उनकी आँखों में उँगली डालकर उन्हें देश की वास्तविक दरिद्रता-दीनता को देखने के लिए बाध्य कर दिया था। उनकी सोने की-सी भूमि कैसे पात-पात करके लूटी गई, कैसे उसके राजा-रानी मिटाये गये और दूर देश से आई हुई अन्यायी जाति ने किस-किस प्रकार उनका अपमान किया—इसका समस्त इतिहास उनके प्राणों में आग भरने लगा। भानुसिंह भी यह सब सुनते, तो उनके भक्ति-प्रधान सात्विक हृदय में भी क्रोध की लपटें उठने लगतीं। गुरुगोविन्दसिंह भी तो भक्त ही थे, पर जाति की मान-रक्षा के लिए उन्होंने माला के साथ-साथ खड्ग भी हाथ में लिया था। पर वह तो उस समय युवक थे और बाबा भानुसिंह इस समय तक हो चुके थे पचपन वर्ष के बुड्ढे। हृदय में साहस भले ही हो, किन्तु हाथों में शक्ति तो न थी। उन्हें दुख होता था कि अपनी युवावस्था में ही वह इन सब बातों को क्यों न समझ सके।

शनैः-शनैः साथियों ने अपना संगठन करके एक सभा बना ली। नाम रखा उसका 'गदर-पार्टी'। सन् १८५७ में जिन वीरों ने देश को पराधीनता के पाश या पाप से मुक्त करने के लिए जो विराट यज्ञ रचा था, असफल हो जाने के कारण

उसको नाम दिया गया 'गदर', तो वह नाम ही उनके लिए पूजनीय हो उठा। अर्थ इसका कैसा भी विकृत सही, पर जिह्वा पर यह शब्द आते ही विदेशी शासको की गर्दन पर पड़ती हुई तलवारों की चमक तो आँखों में फिरने लगती है—घोड़ा दौड़ाती हुई झाँसीवाली रानी का ललकार तो कानों में गूंजने लगती है, और फिर देश के सैकड़ों फुंकते हुए गांवों, वृक्षों पर एक-एक रस्सी मे फँसी हुई दस-दस देशवासियों की गर्दनों और रक्त से लाल दिल्ली की गलियों की स्मृति तो आँखों के सामने घूमने लगती है—धधकती हुई आग में नाना साहब की प्यारी बेटी मैना को हाथ-पैर बांधकर डाल देना तो मन में आग लगाने लगता है! तब फिर इस शब्द से अधिक उपयुक्त अर्थपूर्ण दूसरा शब्द उन्हे कौन-सा मिलता?

बाबा भानुसिह भी गदर-पार्टी के सदस्य बने; किन्तु अपने अशक्त दुर्बल शरीर के कारण वह उसके अर्द्ध सहायक मात्र ही रहे। जब कभी धन की आवश्यकता होती, बाबा अपनी जेब उलट देते, इससे अधिक कुछ कर सकना उनके लिए अपने वश से बाहर की बात प्रतीत होती थी। और, जिस कार्य्य में योग ही नही दे सकते, उसमें दख़ल देना ही क्या? इसीलिए, जब नौजवान शस्त्र एकत्र करने और युद्ध प्रारम्भ करने की योजनाएँ बनाते होते, तब बाबा एक कोने मे चुपचाप बैठे माला फेरते रहते। इन युवकों मे से वह हरएक को ऐसा प्यार करते थे, जैसे ये सब उनकी ही सन्तान हो। अब उन्होंने देश के लिए जो पथ ग्रहण किया था उसकी भयंकरता से बाबा अपरिचित नही थे। आज से अनेक वर्ष पहले नामधारियों के गुरु बाबा रामसिह ने भी तो इसी मार्ग को पकड़ा था, और तब इस अपराध मे उनके अनुयायी किस प्रकार तोपों के मुँह पर बाँधकर उड़ा दिये गये थे, यह सब बाबा से छिपी हुई बातें न थी। तो क्या इन सबको भी इसी प्रकार के दंड और यातनाएँ सहन करनी होगी?—बाबा सोचते-सोचते सिहर उठते; माला हाथो से छूट जाती; बदन पर पड़ा चादर आँसुओं से तर होने लगती; उनका साहस डिगने लगता था। पर तभी कोई उनके कानो में गुरुगोविन्दसिह के दोनों पुत्रों को दीवार मे चुन देने की कथा गुनगुनाने लगता था। गुरुगोविन्द भी तो उन बच्चों को प्राणो से अधिक प्यार करते थे; किन्तु उन पुत्रों के मोह में उन्होने क्या अपने मार्ग को छोड़ दिया था—और क्या उनके प्राण बचाने के लिए विपक्षी से सन्धि कर ली थी? यही सब प्रश्न उभरने लगते और बाबा के मुख पर पुनः दृढ़ता दिखाई देने लगती।

एक दिन समाचार मिला कि कनाडा-प्रवासी भारतीयो के परिवार जब वर्षो से बिछुड़े अपने आत्मीयों के पास कनाडा पहुँचे, तो वहाँ की सरकार ने उन्हें वैरँग वापस कर दिया। भला यह कैसी बात? अभी कुछ ही दिन पहले तो कनाडा-

सरकार ने यह घोषणा की थी कि हिन्दुस्तान से यदि कोई भारतीय सीधा कनाडा आवेगा, तो हम उस पर कोई रोक नहीं लगावेंगे। यह घोषणा भी चालबाजी से खाली नहीं थी, क्योंकि हिन्दुस्तान से कनाडा के लिए कोई सीधा जहाज चलता ही न था। फिर भी बाबा गुरुदत्तसिंह ने सर्वस्व दाँव पर लगाकर एक जापानी जहाज 'कोमाटागारू' को किराये पर लिया और उसमें सैकड़ों भारतीयों को लेकर सीधे ही कनाडा जा पहुँचे थे। फिर भी कनाडा की भूमि उन्हें छूने तक नही दी गई। काले गुलाम आदमियों को भी भला सुख-दुख होता है? क्या उन्हें भी अपने प्रियजनों से स्नेह करने का अधिकार है? और क्या उनको दिये हुए वचन को पूरा करने की भी आवश्यकता है? कनाडा के अधिकारी जानते थे कि इनके साथ चाहे जैसा व्यवहार कर लो, उसके विरोध में कोई भी सरकार उनसे जवाब तलब करने थोड़े ही बैठेगी? गलियों में फिरनेवाले कुत्तों को चाहे कोई राहगीर ईंट, पत्थर या लाठी मार देता है; पर किसके मन में उसके लिए दर्द होता है? कनाडा के अधिकारी भारतीयों को गलियों में फिरनेवाले लावारिस कुत्तों से भी बदतर समझ बैठे थे। इसलिए, 'कोमाटागारू' को वापस होना पड़ा। समुन्दर की छाती पर देश के अपमान की यह वेदनामय कहानी अंकित करता हुआ वह भारत की ओर बढ़ने लगा। समुद्र में तूफान उठ रहा था; पर इससे भी भीषण तूफान उठा हुआ था जहाज के यात्रियों के हृदय में। उनके शरीर का एक-एक रोम फुँका जा रहा था। आशा यही थी कि आज तक जिन्हें अपना अन्न खिला-खिलाकर मोटा किया है और जिन्होंने—एक बार नहीं, सैकड़ों बार—प्रभु ईसा की शपथ खाकर अपने शासित देशों की अधिकार-रक्षा की घोषणा की है, उन अपने शासकों से ही जाकर फर्याद करेंगे। यह माना कि हम दास हैं; पर इससे क्या हुआ? स्वाभिमानी स्वामी अपने दास का अपमान भी तो अपना अपमान ही समझता है। और फिर, स्वामी भी ऐसा शक्तिशाली, जिसके राज्य में सूर्य्य भी अस्त हो जाने का साहस नही रखता। उन बेचारों को क्या मालूम था कि यह जाति कहीं रास्ता-चलते मनुष्यों को अँधेरे में ही पकड़-पकड़कर जीवित ही न चबाने लगे, इसीलिए भगवान् सूर्य्य इनके राज्य में अस्त नहीं होते!

'कोमाटागारू' कलकत्ता पहुँचा। पर अरे बाप रे! जिनसे फर्याद करने की बात थी, उनके तो तेवर ही बदले हुए हैं। तोप-बन्दूकों के साथ वे समुद्र-तट पर खड़े इनके आने की बाट ही देख रहे थे। जहाज ने लंगर डाला ही था कि हुक्म हुआ—"जो यात्री उतरेगा, गोली से भून दिया जावेगा।" जिस देश में उनके पूर्वजों के पूर्वज जिये-मरे थे, जिसकी मिट्टी का एक-एक कण उन्हें प्राणों से भी प्यारा था, जो उनकी आदिभूमि—मातृभूमि—देवभूमि थी, उसी में पैर न रखने के लिए आज्ञा

[illegible] थे, जो भारत समुद्र पार के रहनेवाले थे—जिनको इस देश का कोई दूर का भी नाता नहीं था ! किन्तु, [illegible] भी [illegible] बने हुए थे। समुद्र के बीच भूखे-प्यासे मरने से [illegible] अपनी मातृभूमि की गोद में प्राण देना अधिक सुखकर है। वे लौट पड़े। गोलियों से स्वागत हुआ। अनेक मरे, अनेक गिरफ्तार हो गये, कुछ बन्दरगाह भी [illegible] गये। देशवासियों ने विरोध में आवाज उठायी थी, पर सरकार ने [illegible] पर [illegible] दिये। समाचारपत्रों में भी यह समाचार पूरा नहीं निकल पाता था ! किन्तु वायु के झोंकों पर तो सरकार का नियंत्रण नहीं था। बन्दरगाह पर जो गोलियों से गिरे पड़े थे, उनकी [illegible], जहाँ-जहाँ उनके साथी थे, सबों ने सुनी—अमेरिका में भी सुनी गई; बाबा भागसिंह के कानों में भी वह पहुँची। उनके तो अनेक साथी भी इस जहाज पर थे। बस, यह समाचार पाते ही गदर-पार्टी के सदस्यों का खून खौलने लगा। 'अब भी क्या हम चुप ही रहेंगे?'—उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते, सभी केवल यही सोचने लगे। कुछ ने कहा—'हम तो सब भारतवर्ष जाते हैं। जानते है कि हमारी शक्ति कुछ भी नहीं है; परन्तु देश के लोग यह सब सहन करके भी जो आज मन में घुट-घुट रहे हैं, अपने प्राण देकर हम उन्हें उचित पथ तो दिखा ही सकते हैं। और, जो आज शक्ति-मद में अन्धे होकर बेधड़क यह सब किये जा रहे हैं, उन्हें भी यह तो समझना ही पड़ेगा कि अभी देश ऐसा निर्जीव नहीं हो गया है जो तुम यह सब राक्षसी कृत्य निर्बाध रूप से करते चले जाओ; तुम्हें भी इसका कुछ न कुछ मूल्य तो चुकाना ही पड़ेगा। दूसरों का ही खून बहाना चाहते हो तो अब अपना खून बहता हुआ भी देखो। तभी तो पता लगेगा कि प्राण निकलने में कैसी वेदना होती है।" फिर क्या, चल देने के लिए जो जत्था तैयार हुआ उसमें बहुतों ने अपने नाम दिये। बाबा स्वप्नाविष्ट की भाँति यह सब खोये-खोये-से देख रहे थे। समझ में नहीं आ रहा था, क्या करें। देश को चल भी दें, तो वहाँ इस बूढ़े शरीर से क्या कर सकेंगे। अन्त में निश्चय किया, यहीं बैठे-बैठे इनकी मंगल-कामना के लिए—सफलता के लिए—जप करते रहेंगे। क्या किया जाय? यह तो भगवान् की माया है—जिसको जिस योग्य बना दे। और, साथी भी बाबा की विवशता से अपरिचित न थे। इसलिए किसी ने चलने के लिए उनसे कहा भी नहीं। बाबा-जैसे साधु पुरुषों का तो आशीर्वाद ही क्या कम है। रुपये-पैसे से भी सहायता करते ही हैं। भरी-पूरी गृहस्थी है, घर में अकेला है, फिर भी देश के काम पर पहले ध्यान देते हैं। ऐसे वृद्ध व्यक्ति को वहाँ ले जाकर भी क्या होगा?

चलने का दिन निश्चित करके सभा भंग हो गई। धीरे-धीरे वह दिन भी आ गया। बाबा अपने मकान के बाहर बैठे हुए थे। इतने ही में, एक बीस-

इक्कीस वर्ष के युवक ने आकर पैर छू मुस्कराकर कहा—"बाबा! मैं भी देश को जा रहा हूँ। न जाने फिर आपकी चरणधूलि मिलेगी या नहीं। अपना आशीर्वाद बनाये रखना।" पर बाबा तो चुप हैं। टुक-टुक करके युवक के भोले सुन्दर मुख को निहारते रहे, जैसे पहले कभी उसे देखा ही न हो। फिर बूढ़ी आँखों से आँसू गिरने लगे। युवक चुप और हैरान है, बाबा को यह क्या हो गया? कुछ क्षणों में बाबा ने संयत होकर कहना चाहा, तुम दुधमुँहे बच्चे देश के लिए जान दोगे और मैं बूढ़ा यहाँ जिन्दगी से चिपटा रहूँगा! पर शब्द मुख से न निकल सके। चुपचाप उठकर भीतर चले गये। युवक कुछ देर खड़ा रहा, फिर लौट चला—उसके साथी प्रतीक्षा जो कर रहे थे! उधर घर के भीतर जाकर बाबा ने एक छोटा-सा बिस्तर बाँधा और बाहर चल दिये। देश लौटनेवालों ने देखा कि बाबा भी उनमें आ मिले हैं। न पहले से कोई तैयारी, न कहना, न सुनना। कुछ ने समझाना चाहा, पर बाबा की गम्भीरता देखकर समझ गये, अब यह रुकेंगे नहीं।

भारत आकर जो होना था वही हुआ—कोई कहीं पकड़ा गया, कोई कहीं। बाबा भी पकड़े गये। मुकदमा चला और 'कालेपानी' की सजा सुनाई गई। बाबा ने धीरे से कहा—'फाँसी नहीं मिल सकती?' जज ने उनके मुख की ओर देखा, तो उसके हाथ काँप उठे—"जिस देश के निःशक्त बूढ़ों में यह भावना भर गई है, वह कितने दिन हमारे शासन में रह सकेगा"—यही सोचकर वह सिहर उठा था। आखिर बाबा, साथियों के साथ, 'अण्डमान' भेज दिये गये। यों बूढ़े अशक्त आदमी कालेपानी की सजा पाने पर भी देश की जेलों में ही रखे जाते थे; पर यह तो राज्य-शत्रु थे। इन्हें चोर-डकैतों के लिए बनाई गई साधारण रियायतें पाने का भी हक कहाँ था? अण्डमान पहुँचने पर बाबा एक कोठरी में बन्द कर दिये गये। एक दिन जेलर उधर होकर निकला, तो उसने बाबा को लक्ष्य करके कहा—"देखा, यह साला भी राज्य लेने चला था! कहो, बूढ़े! कैसा राज मिला है?" यह कहकर हः हः करके हँस दिया। साधुस्वभाव बाबा ने वर्षों से किसीको अपशब्द नहीं कहा था; पर उस जेलर के हँसी से फटे हुए भयंकर मुख में उन्हें ऐसा दिखाई दिया, जैसे वृटिश शासन का दानव उनके स्वतंत्रता-आन्दोलन का अपमान कर रहा हो। बाबा ने भी उसी प्रकार उत्तर दिया—"जा जा टुकड़खोर कुत्ते! कायरों की तरह कोठरी में बन्द करके गालियाँ बकता है? रोटियों के गुलाम! तुझे शर्म भी नहीं आती!" जेलर का मुँह फीका पड़ गया। उसका जीवन कैदियों को ठोकर लगाते ही बीता था। गालियाँ तो प्यार की बात समझी जाती थी। आज तक तो वह कैदियों की माँ-

[illegible] ने किसी [illegible] कहा था और न [illegible] करके हँसते रहते थे। इस [illegible] भी नहीं था, सिर्फ एक हल्का-सा मजाक किया था! और [illegible] में आकर, इतने आदमियों के सम्मुख, ऐसी कड़ी बात कह डाली! [illegible] —"अच्छा, मैं देखूँगा।" बाबा ने उसकी आँखों में नाचती हुई [illegible] देखी। [illegible] समझ गये कि आगे क्या होनेवाला है। पर इससे क्या हुआ? उन्होंने उसी तरह कड़ककर कहा—"अरे तू क्या देखेगा राक्षस! यहाँ मौत का डर ही किसे है?" जेलर उस समय चला गया। पर उसी संध्या को उसने बदला ले लिया। दिन छिपते ही बाबा की कोठरी में आठ पहरेदारों ने घुसकर उनकी एक-एक हड्डी तोड़ दी। जेलर ने समझा, अब यह कैदी कभी ऐसी गुस्ताखी न करेगा। पर बाबा को उसके पश्चात् जीना ही मंजूर न था। दूसरे ही दिन केवल उनका निर्जीव शरीर कोठरी में पड़ा हुआ था!

स्वतंत्रता-देवी के चरणों में भारतमाता जो पुष्पमाल अर्पित कर रही थी, उसमें श्वेत केशों से वेष्टित एक और सिर आ जुड़ा। देवताओं ने देखा कि हिमालय का हिमकिरीट उस दिन एक अपूर्व गौरवमय आभा से दमक रहा है!



पण्डित हंसकुमार तिवारी

जन-साहित्य

आजकल जन-साहित्य की चर्चा बहुत व्यापक और गंभीर हो उठी है। लोक-कल्याण-कामियो एवं साहित्य-हितेच्छुओ की भी यही नेक सलाह है कि आज-कल जन-साहित्य की सृष्टि ही अपेक्षित है। जन-साहित्य के दो तात्पर्य हो सकते हैं— (१) जनता का साहित्य, अर्थात्—वह साहित्य, जिसका विषय सर्वसाधारण जनता ही हो। (२) जनता के लिए साहित्य, अर्थात्—वह साहित्य जो जनता का विषय हो।

साहित्य के पिछले युग मे जन-साधारण का ग्रहण कभी साहित्य के विषय-रूप में नही किया गया! यह उपेक्षा साहित्य-सृजन-शक्ति की ईमानदारी तो नही ही मानी जा सकती। काव्य, नाटक आदि में पात्र और विषय का नपा-तुला मापदंड था। प्रभाव और परिणाम की परिकल्पना से शुभाशुभ का विचार भी किया जाता था। और, इसलिए, साहित्य में ऐसे ही विशिष्ट पात्र, परिस्थिति एवं विषय का उपयोग होता था, जिनका सपर्क जन-समाज के एक खास और संख्या-

नगण्य वर्ग से ही था। इतिहास जिस प्रकार चुने-माने राजाओं की वंशावली भर पेश करता तथा धर्म, जाति और देश के लिए सब प्रकार के बलिदान देनेवाले शहीदों के नाम पर दो बूंद स्याही की कंजूसी करता रहा है, ठीक उसी प्रकार साहित्य भी समाज के सबसे बड़े और अनिवार्य अंग के साथ कृतघ्नता करता हुआ अपनी भी स्वास्थ्य-हानि करता रहा है। उसने चाँद-से खिले मुखड़ों को देखा, किन्तु उन धूल-भरे चरणों को भुला दिया, जो उनकी बुनियाद हैं। फलस्वरूप हम कह सकते हैं कि साहित्य ने एक जीवंत प्रतिमा जरूर बनाई, मगर उसकी रीढ़ बनाने से रह गई! यह एकांगिता साहित्य की कमी ही नहीं, उसका एक अक्षम्य अपराध है, आज जिसका प्रतिकार करना ही है। आज साहित्य को रंगमहल के बजाय मन्दिर बना देना है और उसपर से कुलीनों का एकाधिपत्य हटाकर उसे हर जन के लिए खोल देना है, जहाँ प्रत्येक के हास-अश्रु का एक मोल हो। वह गिने-चुने की मौरूसी जायदाद न हो, सबकी जमीन हो। यह हुआ जनता का साहित्य। और, जनता के लिए साहित्य का तात्पर्य है वह साहित्य जिसमें जनोपयोगी विषय की चर्चा हो। जो साहित्य कुछ खास व्यक्तियों के छोटे क्षेत्र में आबद्ध रह जाय, उसकी सार्थकता भी क्या? साहित्य की साधना और उसकी सिद्धि, दोनों ही दृष्टि से श्रेष्ठ साहित्य वही है, जो अधिक से अधिक लोगों में प्रचारित और अधिक से अधिक लोगों के लिए उपयोगी हो। साहित्य-रचना में साहित्यकार की कौन-सी प्रेरणा काम करती है? यही कि वह अपनी आत्मा के प्रकाश द्वारा बहुतों में, बहुत दिनों के लिए, प्रतिष्ठित होना चाहता है। व्यापकता की यह तीव्र प्यास ही साहित्य-सृष्टि की जननी है, यही साहित्य की साधना है। और, साहित्य की सिद्धि है जन-कल्याण। महाकवि वाल्मीकि को जब तमसा के तट पर क्रौञ्च की विकल वियोग-वेदना ने बेकल कर दिया और उनके कंठ में एक अभूतपूर्व छंद का आविर्भाव हुआ, तब ब्रह्मा का यह संदेश लेकर स्वर्ग से नारद उतरे कि 'हे महाभाग कवि, तुम अपने इस अमूल्य संगीत का दान किसे दोगे? किस देवता की कीर्ति-कहानी अपने इस अलौकिक छंद में गूँथकर स्वर्ग के देवता को मर्त्यलोक में अमरता प्रदान करोगे?' नारद को ऐसा निवेदन करते देख कवि ने कहा—"हे देवर्षि, देवदूत, पितामह के चरणों में मेरा यह निवेदन पहुँचाइए कि स्वर्ग से जो उतर आया, उसे पुनर्बार स्वर्ग को न ले जायँ। स्तवगानों से देवता मानव हुए आते हैं, मैं अपने छंद-गीतों से मनुष्य को देवता बनाऊँगा।"

साहित्य की मर्मवाणी यही है। आज के मनुष्य को देवता के बजाय मनुष्य बनाना ही सबसे जरूरी है; क्योंकि आज अभागा मनुष्य मनुष्य भी तो नहीं रह गया! इसलिए साहित्यकार का प्रधान कर्त्तव्य हो जाता है कि अपनी रचना

द्वारा इन टूटे हुए दिलों में वह आशा का संचार करे, वेदना से बंद हुए कंठों में वाणी दे। यह महान् कार्य एकमात्र साहित्य द्वारा ही साध्य हो सकता है। दु:खदग्ध संसार के उत्तप्त मरुस्थल में जो मानवता निर्जीव हो गई है, उसके पुनर्जीवन की शक्ति साहित्य के अमृत-रस में ही संचित है। सगर की संतानें जब दग्ध होकर मर गई थी, तो स्वर्ग से मंदाकिनी की धारा को पृथ्वी पर लाना पड़ा था। आज की मरी हुई मानवता को पुनरुज्जीवित करने के लिए साहित्य-गंगा का प्लावन चाहिए। और, उस साहित्य के दामन को पहले से बहुत बढ़ा देना होगा, जिसकी छाया वर्गविशेष के बजाय सबके लिए सुलभ हो। वह साहित्य जनता का विषय भी हो और उसका विषय सर्वसाधारण जनता भी हो। ऐसा नही होता, तो हम एक अनन्य शक्ति का दुरुपयोग ही करेंगे।

जन-साहित्य की सृष्टि जरूरी है, यह तो हर हालत में मान ही लेना है, और चूंकि उसकी सृष्टि मे आज तक त्रुटि होती रही, इसलिए स्रष्टा दोष का भागी है— तर्क से यह भी मान लेना आवश्यक हो जाता है। किन्तु सृष्टि कर लेने से ही वह जनसाधारण के लिए उपयोगी और लाभप्रद होगा, इसका कौन-सा उपाय है? बादल अमृत बरसाये भी, तो खेत में फूल-फल लगने की कौन-सी सूरत हो सकती है? पेड़ मे बेल लगे होने से भी कौओ के हिस्से में नहीं आता। हम-आप जिन जनोपयोगी साहित्य की चिन्ता में एँड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे हैं, यथार्थतः उस साहित्य की भी कोई उपयोगिता जनसाधारण के लिए नही है। साहित्य अब तक जो वर्ग-विशेष के लिए था, उसका केवल यही कारण नही था कि उसी नीयत से उसकी रचना की गई थी। उसका एक कारण—और बहुत बड़ा कारण—यह भी रहा कि सर्वसाधारण, साहित्य के उस भाव-लोक तक, पहुँचने में असमर्थ रहा। उसने पेड़ की चोटी तक जाकर फल तोड़ने का प्रयास तो नही ही किया, पाँव के पास फल टपक भी आया, तो उसका उपयोग उसने नही समझा। ऐसे साहित्य-ग्रन्थों का सर्वथा अभाव तो है नही, जिनमे सदा से उपेक्षित रहनेवाले पात्र और विषय ही आधार-स्वरूप लिये गये हैं, किन्तु उन महत्त्वपूर्ण रचनाओं का भी लाभ और आनन्द उतने ही थोड़े लोग उठाते है, जो साहित्य-रसिक हैं। प्रेमचन्द ने गरीब गृहस्थों के जीवन पर साहित्य की इमारत खड़ी की, शरच्चन्द्र ने नारी-जीवन के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को अंतराल से लोक-चक्षु के सामने ला रखा, पर सर्वसाधारण में वह कितना लोकप्रिय हो सका? यही क्यों, जनसाहित्य के हिमायती जिस 'गोर्की' को लोक-जागृति का सफल कलाकार मानते है, जिस 'वाल्तेयर' और 'यूगो' को क्रान्ति का मन्त्र-द्रष्टा मानते हैं, उनके साहित्य का सहज रूपान्तर यदि यहाँ प्रस्तुत कर दिया जाय (है भी), तो भारतीय जनता पर उसका

प्रभाव किस परिमाण में हो सकता है ? आज तक का रचित साहित्य ही उस परिमाण का पक्का प्रमाण है।

उपयोगिता की दृष्टि से साहित्य का विचार करते हुए हम प्रायः एक बात भूल जाते हैं कि साहित्य का फलाफल लेखक-पाठक पर समान-रूप से निर्भर करता है। किसी जाति को भाग्य से जब कोई प्रतिभा मिल जाती है, तो वह धन्य हो उठती है। किन्तु, अगर उस प्रतिभा से लाभ उठानेवाले लोग न हों, तो वह प्रतिभा निर्जन के फूल से अधिक क्या सार्थक हो सकेगी ? एक विद्वान् की राय है—"God giveth speech to all, song to the few.—भगवान स्वर सबको देता है, संगीत बाज-बाज को।" किन्तु हम समझते हैं, किसी जाति के लिए ऐसे अनेक भाग्यवान रचनाकार की जरूरत नहीं है, मगर सहृदय पाठक-समूह का होना आवश्यक है, जो वास्तव में मुश्किल से मिलता है। एक संस्कृत-कवि ने इसीलिए कहा है—'हे ब्रह्मा, कपाल में और जो भी लांछन लिखा है, सब सत्य करूँगा, मगर अरसिकों के आगे कवित्त-निवेदन करने जैसी विडंबना कपाल में न लिखना।' इससे स्पष्ट है कि सहृदय पाठक सहज ही सुलभ नहीं होते। इसी अभाव से साहित्य का यह दुर्भाग्य रहा है कि उसको एक सँकरे दायरे में ही अपनी घर-गिरस्ती महदूद रखनी पड़ी है। खेती के लिए नियमित वर्षा आवश्यक है; किन्तु खेती का एकमात्र वहा चरम साधन नहीं, खेत का उर्वर होना भी अपेक्षित है। जो लोग सिर्फ साहित्य के स्टैण्डर्ड को साधारण लोगों तक लाना चाहते हैं, वे न तो साहित्य के हित-साधक हैं, न जनता के। जनता की शिक्षा का, और उसके मानसिक स्तर को उन्नत करने का, प्रयत्न करना ही यथार्थतः कल्याण का उपाय हो सकता है। जिस देश की नब्बे प्रतिशत जनता अक्षरज्ञान से वंचित है और दस प्रतिशत तथाकथित शिक्षितों में भी साहित्य के संस्कार का सर्वथा अभाव है, उस देश की साहित्य-साधना अगर असार्थक होती है, तो साहित्य-साधकों का कौन अपराध है ! जनता की रुचि के अनुकूल साहित्य तैयार करने का अर्थ सत्साहित्य नही हैं, बल्कि जनता की रुचि को परिष्कृत और आत्मा को उन्नत करनेवाला साहित्य है। उसीको हम साहित्य कहेंगे। ऐसे उच्चकोटि के साहित्य-ग्रन्थों की कभी बाजार में कटती नही होती, उन्हें दीमकें काटती है ! वास्तव में कहा जाय तो उच्चकोटि की कला या साहित्य में जनसाधारण की उपेक्षा नही रहती, बल्कि ऐसी कला और साहित्य ही चिरकाल से जनसाधारण द्वारा उपेक्षित रहता है। प्रसिद्ध समालोचक 'सर वाल्टर रैले' ने कहा है—"पुस्तकें उनके लिए लिखी जाती है, जो उन्हें समझ सकें।" * विवेकशील पाठकों के अभाव और समाज के अनादर

* Books are written to be read by those who can

से मनुष्य की कितनी ही मूल्यवान मानसिक-संपत्तियों का सत्यानाश हो चुका है, इसका कौन लेखा रखता है ? 'इमर्सन' ने इसीलिए ऐसे महत्त्व के समय में जनता को सावधान रहने का उपदेश दिया है, जब उसके बीच एक महान् प्रतिभा ईश्वरीय देन के रूप में आती है। जनता के नाम पर साहित्यकार के उत्तरदायित्वों की सूची को निरंतर लम्बी करते रहना ही साहित्य से सुफल-प्राप्ति का साधन नहीं, उन साहित्यकारों की वाणी और उनकी कृति से लाभ उठाने की योग्यता जनता मे उत्पन्न करना सबसे बड़ी बात है।

जनता की पसंद साहित्य की कसौटी नही, न उनकी पसंद का अनुगमन करना ही साहित्यकार का लक्ष्य है। आम तौर से गीतों में जनता 'वालम आइ बसो मोरे मन में', साहित्य में 'ननद-भौजाई का झगड़ा' और कला में भी लगभग वैसी ही निम्न स्तर की चीजे पसंद करती है। अगर इसीको आदर्श मानकर जन-साहित्य की सृष्टि की जाय तो दुर्भाग्य ही समझिए। ऐसे जन-साहित्य से तो साहित्य-हीन जाति ही ज्यादा भाग्यवती होगी। वास्तव में साहित्य को उच्चकोटि का ही रहना है, चाहे वह कुछ ही लोगों के काम का क्यों न रह जाय। देवता को स्वर्ग से धरातल तक उतारने को तो हम तैयार हो सकते हैं, पर उसे रसातल भेज देना सह्य नही हो सकता। यह समझौता करने को तो हम तैयार है कि साहित्य का परिधान—भाषा—सहज कर दिया जाय और उसके भाव-रत्न को जनता अपनी एकाग्रता से सुगम कर ले। इस सहज भाषा से हमारा यह अभिप्राय कदापि नही कि वह वाजारू या अनायास-लब्ध भाषा हो। सहज भाषा भी वही हो सकती है, जो अपने में ऐसा संस्कार रखती है, जिससे मनुष्यता की उन्नति संभव है। वह सहज भाषा शब्दों और उनकी गतिशीलता तथा कार्यकरी शक्ति पर निर्भर करती है। सुलझे हुए व्यक्ति ही इस भाषा का प्रयोग कर सकते है। जो जटिलता को भाषा की शक्ति समझ बैठे है, वे भी भ्रम में हैं और जो मोटे प्रयोजन की भाषा को ही साहित्य बना देना चाहते है, वे भी भ्रम में है। दुष्यंत के प्रासादमंदिर मे पट्ट-महादेवी हंस-पादिका वीणा पर जो गान करती है, वह प्राकृत में—

"अहिणअ महुलोलुवो तुमं तह परिचुम्बिअ चूअमंजरि।
कमल वसइयेउ णिब्बुओ महुअर विसुमरिओसिएणं कहं॥"

यह सर्वसाधारण की भाषा है ; किन्तु क्या हम इसे विदग्ध भाषा कह

understand them, their possible effect on those who cannot, is a matter of medical rather than of literary interest.

सकते हैं। यह भी नहीं कि जो समझ से परे हो, वही उच्चकोटि का साहित्य है। दुर्बोधता श्रेष्ठ साहित्य का गुण अवश्य नहीं। किन्तु हम देखते हैं, जो रसिक हैं, जिनमें साहित्य का संस्कार है, वस्तुतः उनके आगे वह साहित्य दुर्बोध नहीं होता। वह रसिकों के लिए अपने में एक-सा अमृत-भंडार संचित रखता है। साहित्यिक भाषा जनता से बहुत दूर की तो नहीं होनी चाहिए, किन्तु उसका श्रेष्ठ और नागरिक होना अनिवार्य है। साहित्य की जो दुर्बोधता निन्दित है, वह वास्तव में स्वयं दुर्बोध है नहीं, हमारा कुंठित रसबोध ही उसे दुर्बोध बनाता है। जिसे रसदृष्टि है, उसे भाषा पारदर्शक पानी की तरह सतह के भावरत्न का दर्शन कराती है। प्रभाव-विस्तार की दृष्टि से 'इमर्सन' ने जैसी रचना को महत्त्व दिया है, उसमें भावों का ऐश्वर्य जरूरी है। जिसमें जितनी अर्थगंभीरता होगी, वह रचना उतनी ही प्रभावशालिनी होगी। * लेकिन उस भाव-गांभीर्य की महिमा जन-साधारण की समझ के लिए केवल भाषा के माध्यम से ही संभव नहीं हो सकती। उसके लिए साहित्यकार और पाठक की रस-दृष्टि में सामंजस्य होना अनिवार्य-सा है। रस की सृष्टि जितना कठिन कार्य है, रस की उपलब्धि उससे कुछ कम कठिन नहीं। कवि बनाये नहीं जा सकते और न इच्छा करते ही कविता बनाई जा सकती है। बड़े-से-बड़े कवि भी यह नहीं कह सकते कि मैं कविता करूँगा। † काव्य-शक्ति ईश्वर-प्रदत्त है, शिक्षागत ज्ञान नहीं। गधे को प्रयत्न से गान नहीं सिखाया जा

* The effect of any writing on the public mind is mathematically measurable by its depth of thought. How much water does it draw? If it awakens you to think, if it lift you from your feet with the great voice of eloquence, then the effect is to be wide, slow, permanent over the minds of men; if the pages instruct you not, they will die like flies in the hour.

† Poetry is not like reasoning a power to be exerted according to the determination of the will. A man cannot say, I will compose poetry. A greatest poet even cannot say.—*Shelley.*

सकता, न अंधे को सूरज का दर्शन कराया जा सकता है। ❀ जिसमें जन्मजात प्रतिभा होती है, अभ्यास से उसे वह विकसित कर सकता है। मन की एकाग्रता और अभ्यास से कविता की उत्पत्ति हो सकती है, ऐसा 'राजशेखर' ने कहा है। ठीक इसी तरह रसानुशीलन भी दैवी कृपा से हो सकता है; पर हर कोई रसज्ञ नहीं होता। 'अभिनवगुप्ताचार्य' कहते हैं कि विमल प्रतिभा के अधिकारी ही रसास्वादन में समर्थ होते हैं। ऐसे रसज्ञ का स्वरूप, लक्षण या गुण क्या होना चाहिए, इस पर प्राचीन पंडितों ने विशेष प्रकाश नहीं डाला। इतना ही ज्ञात होता है कि रसज्ञता काव्यशक्ति की तरह ही एक दैवदत्त गुण-विशेष है और अनुशीलन तथा अभ्यास से उसका विकास होता है। आप तबतक किसी रचना का आस्वादन नहीं कर सकते, जबतक उन भावों, परिस्थितियों से आपके मन का परिचय नहीं, जिनको आधार मानकर कवि ने अपना संसार खड़ा किया है। कालिदास को पढ़ते हुए आपको उनके समय, उनके पात्र और उनकी परिस्थिति से परिचित होना चाहिए। इस अंतर्दृष्टि या कल्पना-शक्ति की कमी होने से तो साहित्य-पाठ का सच्चा आनंद कदापि नहीं प्राप्त हो सकता। और, साहित्य—वस्तु भी तो ऐसी-वैसी नहीं; वह है इतिहास और दर्शन की सम्मिलित आत्मा, ज्ञान-विज्ञान का समन्वय। केवल भाषा को बाजारू बना देने से ही साहित्य की आत्मा तक जिज्ञासु की पहुँच हो सकेगी, यह असंभव है। भाषा—भाव का वाहन है, और भाव है—रस का आधार। जिस तरह वाक्य और अर्थ पार्वती-परमेश्वर की तरह † अभिन्न माने गये हैं उसी तरह भाव और रस का भी आपसी संबंध बीज और वृक्ष का है ‡। ऐसे रस की उपलब्धि के लिए अंतर्दृष्टि उतनी ही पैनी चाहिए जितनी साहित्यकार की होती है। मधुमक्खी के छत्ते से निकालकर शहद की मिठास का कोई अन्य व्यक्ति आपको रसास्वादन कराये, यह सुविधा साहित्य-

❀ यस्तु प्रकृत्याश्म समान एव काव्येन वा व्याकरणेन नष्टः।
तर्केन दाह्योऽनलधूमिना वाऽप्यविद्धकर्णः सुकविप्रबन्धैः।
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्याच्छिक्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तः।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं पश्यति नार्कमन्धः॥

† वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतःपितरौ वंदे पार्वती-परमेश्वरौ॥ (रघुवंश)

‡ यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो वृक्षात्पुष्पं फलं तथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः॥—(भरत मुनि)

रसास्वादन के साथ नहीं होती। इसका आहरण तो पाठक स्वयं ही कर सकता है। 'कार्लाइल' का कहना है, 'जब हम सावधानी से कविता-पाठ करते हैं, तो स्वयं कवि हो जाते हैं'। इसका अभिप्राय यह है कि काव्यानन्द के लिए पाठक को उसी भावावस्था में आना चाहिए, जो कवि की होती है। कवि जिस रस की सृष्टि करता है, पाठक को उसीका ग्रहण कर आनन्दलाभ करना पड़ता है। इस प्रकार काव्य-रचना के आनन्द और काव्य-पाठ के आनन्द में रूपगत भिन्नता होते हुए भी स्वरूपगत समानता होती है।

यह विषय दूसरे ढंग से भी समझा जाय। साहित्य के साधारणतया चार प्रधान उपादान होते हैं—अनुधावना (Intellectual element), अनुभूति (emotion), कल्पना (imagination) और रचनाशैली (technique)। रचना-विशेष की इस विशेषता को समझे बिना उसकी मार्मिकता का आभास हम नहीं पा सकते। किसी मूर्ति के सौन्दर्य में उसके सभी अंगों के सौष्ठव का एक तारतम्य होता है, जो खंड-खंड में न व्यक्त होकर संपूर्ण मूर्ति के स्वरूप में ही निहित होता है। रचना के ये चारों उपादान कभी अलग-अलग रूप में हमें पूर्ण आनन्द नहीं दे सकते। इसके अतिरिक्त रचना में साहित्यकार की आत्मीयता भी होती है। यह आत्मीयता यों समझी जा सकती है—विश्वकवि 'वाल्ट व्हिटमैन' ने अपनी पुस्तक के बारे में लिखा—"साथी, यह कोई किताब नहीं, जो इसे छूता है, वह एक आदमी को छूता है।* जो पुस्तक का अर्थ सिर्फ यह समझते हैं कि लेखक ने अभ्यासवश दिमागी खुराफात के लिए कुछ कागज रँग दिया है, वह उसकी महत्ता नहीं समझ सकता। पुस्तक में साहित्यकार का प्राण ढलता है—उसके युग-युग की जीवन-साधना साकार होती है। कवि 'डी० एस० सैवेज' ने तो यहाँ तक कहा है कि युग-विशेष का मन और उसकी आत्मा साहित्यिक अभिव्यक्तियों में पुस्तकों द्वारा ही जीवित रहती है †। उपन्यासों में जिन पात्रों के चरित्र आते है, उनसे आप विनोदमात्र पा सकते हैं, यह शायद संभव भी हो; किन्तु जिनके द्वारा वे पात्र नियोजित होते हैं, वे उनके मन के खिलौने नहीं होते। अपने-पराये के साथ सुख-दुख में हम यथार्थ जीवन में जैसे सुखी-दुखी हुआ करते हैं, उन रचनाकारों के कल्पना-प्रसूत पात्रों के साथ उनका वैसा ही प्रेम और ममता

* Comrade, this is no book
Who touches this, touches a man.

† The mind and spirit of an age survive mainly in its literary expression, through books.

रुचि की तराजू पर तौलकर 'अच्छी-बुरी' की सस्ती आलोचना कर देते हैं ! क्या यह अन्याय नहीं ?

अब हमने यह देख लिया कि स्वाध्याय भी एक साधना है, पढ़नेवालों का अनुष्ठान भी महत् है। इसलिए केवल जनसाधारण की भाषा में लिख देने से ही साहित्य जन-साहित्य होगा, यह आशा तो विडंवनामात्र है। भाषा के अतिरिक्त भी साहित्य की गूढ़ता के और पहलू हैं। और, जनता के लिए फरमाइशी चीज लिखना तो साहित्य के लिए अनपेक्षित है; क्योंकि साहित्य लोक-रुचि का अनुगामी हो, यही ठीक नहीं, लोकरुचि का निर्माण भी उसका लक्ष्य है। मनुष्य को पशु-सामान्य धरातल से उठाना साहित्य का काम है। इसलिए अगर सत्य कहें, तो यही कहना होगा कि साहित्य पर साधारणतया जो दुरूहता का दोष लगाया जाता है, वह सोलहो आने साहित्य का ही दोष नहीं होता, ज्यादातर जनसाधारण की रसबोध की अक्षमता तथा साहित्य-संस्कार-हीनता का भी दोष होता है। जीवन और जगत् का उत्कर्ष ही साहित्य की साधना है, उच्चता ही उसका आदर्श है। जनता के लिए अगर उसे नीचे उतारना पड़े, तो इसे देश का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। संस्कृत देश या संस्कृत जनता में उच्चकोटि के साहित्य का निरादर नहीं होता। गोथे (Gothe) का कहना है—'जब सच्ची कविता का अनादर हो तो वर्वरयुग का सूत्रपात समझिए। जो अच्छी कविता नहीं पसंद करता, वह कोई भी हो, वर्वर है।' *

जन-साहित्य की आवश्यकता तो शायद है, पर उसके निर्माण का वास्तविक उपाय अभी नहीं मिला। उपर्युक्त विवेचन से रचयिता और पाठक के पारस्परिक कर्त्तव्य को हम देख चुके; यह भी देखा कि जन-साहित्य के निर्माण अथवा साहित्य के संस्कार के लिए जनता को योग्य बनाना, दोनों में क्या कठिनाइयाँ हैं। कभी रामानन्द प्रभु ने धर्मतत्त्व को भाषा के जटिल जाल से मुक्ति दी थी। उन्होंने महसूस किया था कि दुर्बोध भाषा में होने से ही जाति धर्मतत्त्वों से दूर होती जा रही है और उनके शिष्यों ने 'भाषा' के माध्यम द्वारा धर्म की नाव को उबारा। कबीर ने कहा—'संस्कृत बँधा पानी है, भाषा बहता नीर है'। लेकिन आज तो संस्कृत को लोग बेमौत मार ही चुके हैं और 'भाषा' में साहित्य लिखा जा रहा है, फिर भी वही दुरूहता कैसे रह गई। क्या यह कहना होगा कि 'भाषा' भी अब 'लोगों की भाषा' नहीं ! यह हमारा दुर्भाग्य है।

* He who has no ear for poetry is a barbarian, be he who may.

जनता के साहित्य का जिक्र करते हुए बहुत-से लोग सूर और तुलसी, कबीर और दादू का जिक्र करते हैं। सही है, वे जनता के कवि हैं। उनके छंद, चौपाई, दोहे महलों से झोपड़े तक समान रूप से प्रिय हैं—उनकी लोकप्रियता में संदेह की गुंजाइश नहीं। किन्तु क्या यह इसलिए है कि लोग उन्हें समझते-बूझते हैं? अच्छे से अच्छे लोग भी रामायण का अर्थ समझने में पानी पीते हैं। पंडितों के लिए भी रामायण में प्रयुक्त शब्द 'कोष' की आवश्यकता उपस्थित करते हैं। फिर भी लोग रामायण पढ़ते हैं, पढ़कर उसके समझने में परिश्रम भी करते रहते हैं। उसमें उनकी सहज जानकारी या उनकी साहित्यप्रियता नहीं है, है भक्तिजन्य जिज्ञासा, मुक्ति का अनुमानित विश्वास। मरणासन्न रोगी के सामने, जो संज्ञा-शून्य भी होता है, पंडितों द्वारा गीता का पारायण कराने का क्या अर्थ होता है? क्या रोगी कर्मवाद के उन गूढ़ श्लोकों का अर्थ उस समय समझता है? यह तो केवल इसलिए किया जाता है कि लोगों को उस रूप में मुक्ति पाने का विश्वास है। रामायण बाँचने में पुण्य है, ज्ञान चाहे न हो। दूसरी बात यह भी है कि रामायण का यह घर-घर प्रचार स्वयं पढ़ने के बजाय लोक-मुख से ही विशेष संभव हो सका है; क्योंकि ज्यादा घरों में तो उसे प्रतिष्ठित करके धूप-दीप ही दिखाया जाता है, देखा नहीं जाता। इसी प्रकार जो लोग बात-बात में फ्रांस की, रूस की क्रांति की चर्चा करते है और कहते हैं कि वहाँ यह जन-साहित्य-सृष्टि द्वारा ही संभव हुआ है, वे इस बात को भूल जाते हैं कि वहाँ की ९० प्रतिशत जनता निरक्षर भट्टाचार्य नही। उनका थोड़ा ही बहुत सही, अक्षर और किताबों से संबंध रहा होगा। अगर अशिक्षा के ऐसे ही घोर अंधकार में वहाँ साहित्य द्वारा क्रान्ति आई, तो वह झूठ है। फिर तो हम कहेंगे कि क्रान्ति आप ही आई और सफल हो गई, साहित्य को उसका श्रेय नही है। ऐसी अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ संसार में घट जाती है, जिनका आधार और कारण नहीं होता। विचारने की बात है, आप हल्की से हल्की भाषा में, मामूली से मामूली ही बात लिखें, पर उस जनता का उससे क्या संबंध हो सकता है, जो पढ़ ही नही सकती उसे! निरक्षर के लिए लिखित साहित्य का मोल ही क्या है? हाँ, गायकों के दल गाँव-गाँव भेजे जायँ, वक्ता जायँ और मौखिक साहित्य द्वारा जनता का मानसिक विकास किया जाय, तो यह संभव है। किन्तु बहरहाल लिखित साहित्य तो भारत की आम जनता के लिए वैसा ही बेकार है, जैसा बहरे को संगीत। इस अर्थ और दृष्टिकोण से तो जन-साहित्य का कोई तात्पर्य नही होता। उपेक्षित पात्र साहित्य में लाये जा सकते हैं, उनकी बाते साहित्य में दी जा सकती है, बल्कि दी जानी चाहिए। किन्तु उसका सुफल ज्यादा से ज्यादा यही हो सकता है कि साहित्यरसिक एक उस

पहलू से परिचित होंगे, जिससे आजतक वे परहेज करते रहे हैं और इससे उन दीन-हीनों के प्रति उनके विचार न्याय्य तथा उदार हो सकते हैं। उन सामंतशाही और पूंजीवाद के पुजारियों का दृष्टिकोण थोड़ा या ज़्यादा बदल सकता है। यह भी एक लाभ है, लेकिन वह लाभ नहीं जो हम चाहते हैं। इससे उन बेचारों का अपने तईं क्या लाभ हो सकता है? आँख अपने-आपको ही नहीं देख पायेगी। जो लोग इस सत्प्रयत्न में लगे हैं, वे सराहनीय हैं—उनका प्रयास निस्सन्देह स्तुत्य है; किन्तु जन-साहित्य की उपादेयता तो तभी सिद्ध हो सकती है जब जनता में शिक्षा का प्रचार होगा, उनकी चेतना उद्बुद्ध होगी, उनमें साहित्यिक संस्कार का जागरण होगा। इसलिए फिलहाल तो जन-साहित्य की सृष्टि की जो प्राणपात से चेष्टा हो रही है, उसके बदले अधिक से अधिक शिक्षालय खोले जाने का प्रयत्न होना चाहिए। महल विराट् और सुंदर हो, यह कौन नहीं चाहता? किन्तु नींव न हो, तो वह हवाई महल कैसा और क्या होगा, यह कहना बेकार है।

•

प्रोफेसर प्रभाकर माचवे, एम०ए०

'त्वष्टा'

परिचयात्मक

[देवताओं का शिल्पी 'त्वष्टा', जिसकी पत्नी 'रचना' और पुत्र 'विश्वकर्मा' है, यूनानी देवता 'हेफीस्टस' अथवा रोम के देवता 'व्हल्कन' की भाँति, धातुकार्य—विशेषतः लौहकर्म—का प्रथम अधिष्ठाता है। अथर्ववेद के बारहवें मंडल में इसके संबंध में उल्लेख मिलते हैं। विशेषतः इसकी पुत्री 'संज्ञा' (त्वाष्ट्री) का आदित्य (सूर्य) से विवाह, जिससे उसके 'अश्विनीकुमार' नामक दो जुड़वाँ पुत्र हुए, एक रोचक घटना है। संज्ञा आदित्य का तेज सहन न कर पाई; अपने स्थान पर एक 'छाया' नाम्नी प्रतिमा छोड़कर वह मैके भाग आई। तिस पर त्वष्टा ने सूर्य का कुछ 'ऋ'-तत्त्व—अर्थात् साग्निकता—चुराकर, उसमें से विष्णु का सुदर्शन और शंकर का त्रिशूल बनाया। ये पिता-पुत्री के अपराध बाद में दंडित हुए। मैंने परवर्ती कथा में 'बद्ध प्रौमेथ्यूस' (इस्काइलीस) और 'मुक्त प्रौमेथ्यूस' (शैले) का सहारा लिया है। मेरा विश्वास है कि अग्नि और लौह के प्रयोग जिस युग में मानव ने सीखे, उसकी स्मृतियाँ इन अनुश्रुतियों में गुंजित हैं। हाल ही में श्रीगॉर्डन चाइल्ड का एक लेख 'माडर्न क्वार्टर्ली' के मार्च-

(१९४६)-अंक में "पुरातत्त्वज्ञों के 'तीन' युगविभाजनों के सामाजिक अर्थ" शीर्षक से पढ़ने को मिला, जिसमें (१) पाषाणयुग (जिसके पुराणपाषाणयुग, मध्यपाषाण-युग और नवपाषाणयुग—ऐसे तीन विभाग पुरातत्त्वज्ञों ने किये हैं), (२) 'ब्रौंज' और ताम्र-युग तथा (३) लौह-युग के परस्पर-संबंध में सुन्दर विवेचना मिलती है। उक्त लेख के अंत में विद्वान् लेखक ने आयुधों और अस्त्रों के विकास की एक तालिका भी दी है, जिसमें से आवश्यक अंश नीचे दे रहा हूँ। मैं सभ्यता के इतिहास के इस सुदीर्घ पथ के आधार पर एक छोटा-सा काव्य लिख रहा हूँ, जिसके कुछ अंश मैंने यहाँ प्रकाशनार्थ दिये हैं। 'असि-नृत्य' एजरा पाउंड की कविता 'सेस्टिना' से लिया है। —प्र० मा०]

औजारों या आयुधों (टूल्स) की तालिका

नवपाषाणयुग	*ताम्रयुग*	*लौहयुग*
(परस्पर सम्बद्ध)		
खोदने की लकड़ी		फावड़ा
कांटा	हल	खुरपी
चक्कर		हँसिया
सूप		कैंची (ईसवी-पूर्व ५वीं सदी)
कुल्हाड़ा		परशु
हथौड़े का पत्थर		हथौड़े (ई०-पू० छठी सदी)
	लकड़ी की कीलें	लेथ
करौत		कम्पास („ „ „)
(असंबद्ध)		
छीनी	चाकू	चिमटे („ „ „)
सिलबट्टा	धनुष-बाण	तार खींचने के औजार
सुई	चक्र (पहिया)	घास काटने के औजार
करघा	कुलालचक्र	लोहे की कीलों के सिरे
चमड़े के काम के औजार	तलवार	
गोफन		
खंजर	छेद करने के औजार	
गदा	धौंकनी	
मछली मारने का भाला	तराजू	
जाला	निहाई (Anvil)	

[१] त्वष्टा का जन्म

कुलपरम्परा

सवर्णा समुद्रसुता प्राचीन वर्ही से प्रचेतस् (नेप्च्यून) आदि हुए दश कुमार।
वृक्ष सब बढ़ने लगे घने-घने जंगलों से ऊर्वी का बढ़ा भार
खेती जब हो न सकी, धान उगने न लगा, ऐसे समय एक बार
दावानल फैला, विश्वव्यापी धूम, क्वैला बना, कान्तार क्षार-क्षार !
वृक्षों के राजा, भयकातर हो गये, सोम
पहुँचे प्रचेतस् के पास लिये प्रस्ताव :
कंडुऋषिकन्या मारिषा से कर लाजा-होम
कृपया लगावें पार डगमग हमारी नाव।
मान गये। विन्ध्या के पास अघमर्पण में,
आधा सोम का ले तेज आधा प्रचेता का,
आसिक्नी वीरिणी ले, यज्ञ से अवर्पण में—

पुनः लहलही सृष्टि, फहराई शस्य-पताका।
वीर्य द्वारा मन द्वारा जन्मे सुलक्षण वे
प्राचेतस् प्रजापति श्रीदक्ष।
पुलकित हो रोम-रोम, पृथ्वी हुई हरी-भरी,
व्योम के भी रंध्र-रंध्र में अतंद्र साम-माधुरी बिखरी।
माया के प्रासाद का गूँजा उच्च व्योम।
फूल उठा वरुणेंद्र घन-वक्ष।
गिरि के भी अन्तर से पिघल उठे लक्ष-लक्ष
जड से ज्यों चेतन-बल,
काल-पाश टूट उपल ये पल-पल,
ऐसे नये मनोभाव।
मिश्रण से अलगाव ज्यों उपजा
राजा से हुई प्रजा।

स्वयं ब्रह्म-अंगुष्ठ-जात थे दक्ष-प्रजापति
और हिरण्य-गर्भ से उद्भव था मरीचिका
मरीचि-सुत कश्यप ऋषि के प्रति

पितृ-मातृका
आकृष्ट हुईं तेरह सुन्दर दक्ष-कन्यका ।
स्वायंभुव मन्वंतर में प्रसूति द्वारा जो
षोडश कन्याएँ निर्मित थीं :

श्रद्धा, मैत्री, दया, शांति, तुष्टि, पुष्टि, क्रियोन्नति,
बुद्धि, मेधा, तितीक्षा औ' मूर्ति स्वाहा, स्वधा, सती ।

इनमें से स्वाहा तैजस् से,
स्वधा अग्निष्वात्ता से तथा, रे,
सती हुई शिव से परिणीता ।
बची हुईं भार्याएँ धर्म-प्रजापति-ब्याहीं ।
कहता हूँ वृत्तान्त, सुनो उनका ही ।
दनु से दानव, नाना पशु-खग-जलचर-थलचर
सृजकर कश्यप देखी अदिति-कुक्षि-गर्भगत
विष्णु-इन्द्र-प्रभृति सुर-सत्रप,
राशि-अप्सराएँ कर निर्मित,
अंतिम सुत वह, जिसका स्वागत—
करने धाई दिशि-दिशि,
छाई कुहेलिका की झीनी झाईं,
शशि-रत निशि भागी लज्जा से,
प्राची का दिगन्त रक्तांकित,
सद्यालक्त-रंजिता ऊषा
आई असंवृता सज्जा से ।
घन-गवाक्ष से पीतमुखी
उन भीत तारिकाओं ने झाँका,
पिघला तुहिन घना ज्यों ओस वेदना का, थी
राका भी मूर्च्छनाधीन, जग जागा ।
लो, तिमिर-विवर से निकली
चपल गिलहरी-सी किरनें ।
प्रात:शिशु ने सीखा 'का-खा-गा' ।
तरु से खग भागा ।

अहं-चेतना के अंकुर ने
तज पर्दे का मोह,
प्रथम चाक्षुप-प्रत्यय 'पर' देखा !
मानों थे पंचवटी-नभ,
देवर सोम,
उषा भाभी,
सुवर्ण-मृग सूर्य,
क्षितिज सौमित्र-सुरेखा।

ऐसी एक सुबह, भू पर
त्वष्टा का संभव हुआ। जगा संसार
उभयकुल हर्षित।
ज्यों चुम्बक से आकर्षित है सार,
दश दिशा में त्यों यशःप्रसार।

[२] पत्थर, ताँबा-राँगा, लोहा

खट्खट्, ठक्ठक्,
खट्खट्, ठक्ठक् खोदा
यह मिट्टी का लौंदा
उसके नीचे है चट्टान
मानवी-श्रम को ज्यों आह्वान :
अरे मैं हूँ मोटा, अभेद्य, श्रीप्रस्तर
परतों पर परतें पृथ्वी-गत
जमे हुए पैरों से दृढ़तर
युगों-युगों से तंद्रा-रत।
शिला-खंड
मैं अशनि-पुत्र ;
ये गिरि प्रचंड
नक्षत्र, मित्र
गुम्फा कलत्र।
तू मेरे आगे है रजकण
हड्डी के पंजर,
मांस-त्वचा तुझ पर
कुछ उढ़ा-चढ़ाकर किया सुघर।
सौ साँस, तुम्हारी यह शेखी ?
हैं युगों-युगों की स्थिति देखी ?
तुम गति ? रेंगती हुई शंका,
क्षुद्रातिक्षुद्र तुम पिपीलिका।
खट्खट्, खट्खट्,
ठक्ठक्, ठक्ठक्,
सौ हाथ
लाख मुट्ठी में ये
कोटिशः कुदालें एक साथ
चल पड़ीं।
चूर हो गया कई चट्टानों का भी
अहंकार
पत्थर में भी जागे ईश्वर।
फिर इस ईश्वर के निर्माता

मानव ने पाई चकमक से
प्रस्तर-प्रसुप्त ज्वाला, भक् से—
जल उठा तूल, फिर तो क्या था !
भट्टी से दीपक तक भकभक
कुटिया-कुटिया में सौ सूरज,
खट्खट् खट्खट् ठक्ठक् ठक्ठक्
हो उठा अग्निमय प्रति लघुरज
हो उठा स्थाणु यह बहुरूप
उन्मद, प्राकृत विद्युतस्पर्शित।
'अग्निर्है वै प्राणः' के वश
'हेराक्लाइटस' के रवि द्वादश।
अग्नि के साथ,
धातु के पात्र
सभ्यता ढली।
संसृति पिछली जो भीतिग्रस्त,
कुछ हुई आत्मविश्वस्त।
और जन-जन समस्त
आत्म के तत्त्व के खोजी,
धातु में कई रम्याकृतियाँ
खोदने लगे सुन्दर पशु-खग,
काल्पनिक यक्ष-राक्षस, परियाँ,
नग, उरग और पंखिल पन्नग।
नौकाएँ, रथ, रण, फौजी !
कुछ सहस्राब्द यों बीत गये
फिर आया लोहा।
जिसने अबतक है मानव-मन
मोहा।

[उष्णता प्रचंड
लौहखंड बना तप्तरस,
दृप्त औ' कठोर लौह
चट्टानी, घोर, लौह
गल-पिघल
पलभर में हो गया द्रवीभूत,
घन जो था अचल भार
ताप के प्रताप से
अमाप-रुद्ध भाप से
विद्युत् की शक्ति से
अनेक राष्ट्र-संयुक्त
एक जनसंघ की
अटूट देशभक्ति से
घन जो था अचल भार
द्रव बना,
बहता है,
जन-जन की इच्छा को
देने नये महाकार।
वह अमूर्त, धरती की
आँतों में निहित रहा
वही धातु, वही मृत्तिका का कूप,
उसको ही विविध रूप
मिले परिशोधित हो।
बना वही इस्पात बाबू,
जो था लोहा गँवार।]

देखी है फौलाद जहाँ है बनता
दीप्त, भयानक, तप्त लौह रस-
उमगी
वे यांत्रिक विराट् भट्टियाँ जहाँ
से जगी
विश्व-निःशस्त्रीकरण चिन्ता।
अस्त्रों पर अस्त्र प्रशस्त, 'कंटकेनैव
कंटकं' गिनता
सेर पर सवा सेर का उत्तार।

पत्थर··लोहा··लोहा··पत्थर।
बेड़ी, छड़, साँकल, जंजीरें,
ताता के प्रासाद, फोर्ड की कारें,
यह सब लोहे के कवेले से निकले हीरे
तुम तन-मन से 'कारे'!
लोहे,
तुमको सोहें
सदा युद्धरत कुञ्चित भौंहें
क्रुद्ध तमतमाई मुद्रा के, खड़े हुए हैं रोएँ,
निब की नोक और न्यूयार्की नभचुम्बी अट्टा तक—
लोहे, तेरी सत्ता जो है!

उसी लोह के पिता त्वष्ट की गाथा,
गाता है कवि आज झुकाकर माथा!

[३] असि-नृत्य

जहाँ खनखनाती तलवारें,
वहीं मुझे आनंद!
ध्वज हरे लाल सुनहले,
नीचे अक्षौहिणि दहले
धरती धूजे
जब गगनदुन्दुभी बजती,
मेघों की सेना सजती,
गर्जन जूझें,
औ' विद्युत् के झनझना रहे हों खड्ग
वही मुझे प्रिय रंग।
कवच से कवच, ढाल से ढाल,
हय से हय, गज से गज विशाल,
टकरावें,
मदिरा-सा ढलता शोणित,
रुण्ड के पात्र हों अगणित,
चंडी गावे,

शांति है नपुंसक व्यर्थ व्यर्थ
संगर में मुझको दिखे अर्थ।
जहाँ पृथक् बजते हों डंके तूर्य शंख,
वही मुझे प्रिय अङ्क।
सूर्य-मुख लाल, तमिस्राभाल—
फोड़ तत्काल, कराल-कराल
किरण ज्यों भाले
काकली, रंग में भंग,
नक्कारे बजते शृङ्ग,
विहग ज्यों वाजे
यह भला हुआ—सब कायर,
मर गये नर नहीं मच्छर।
पुनः आज यमदूतों का जो मचा
महा हुरदंग
वही मुझे सत्संग!
आज पुनः पानीपत, प्लासी,

कुरुक्षेत्र औ' हल्दीघाटी,
अरी युद्ध के अंग
देवासुर-संग्राम अनूठा,
धैस्टल टूटा, केनिलन फूटा,
रहे शान्ति क्यों मन्द ?
स्थैर्य, अकर्मक क्यों, तुम कमठ !

फोड़ उठो अंगद-नट, झटपट,
पुनः पूर्ण स्वच्छन्द और निर्द्वन्द्व
हो उठें ये कालिल निस्पंद
इसीसे—
जहाँ खनखनाती तलवारें,
वहीं मुक्त आनंद !

डॉक्टर रामचरण महेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्०

श्रीहरिभाऊ उपाध्याय : : एक व्यक्तित्व

[सिपाही, सेवक तथा साधक]

साहित्यिक सुरुचि तथा सांस्कृतिक परिष्कृति के साथ सुधारवाद का समन्वय ; अहिंसा द्वारा जीवन की पुनर्रचना ; स्वानुभव पर आश्रित जीवन-वाद का रचनात्मक प्रतिपादन ; आध्यात्मिकता से अनुप्राणित जीवन-क्रम; संस्कृति की कसौटी पर कला का मूल्यांकन ! पंडित हरिभाऊ उपाध्याय का नाम लीजिए और आपके अन्तस्तल में उपर्युक्त तत्त्व स्वतः दौड़ जायेंगे—और दौड़ जायगी आचार्य द्विवेदीजी की नियम-निष्ठा की भावना, गांधीजी की अहिंसा-वृत्ति तथा प्रेमचन्दजी की सीधी-सादी हृदयस्पर्शिनी लेखन-शैली ।

उपाध्यायजी साहित्यिक संत हैं। आपका जीवन एक खुली पुस्तक है। जीवन में नग्नता के सिद्धान्त के आप हिमायती हैं—"···इन सीमित अनुभवों में मैंने पाठकों से अपना कोई परदा नहीं रखा है। जिस जगत् की मैं देन हूँ, उससे मेरा क्या परदा होना चाहिए ? हाँ, शिष्टता और सुरुचि का ध्यान तो रखना ही है ; जगत् को अपनी अश्लीलता और वीभत्सता से तो बचाना ही है। अपनी त्रुटियों और बुराइयों से जगत् को बचाकर उनका फल खुद ही भुगतना—अपनी अच्छाइयों को सर्वदा अर्पण करना—अहिंसा की वृत्ति है। इन अनुभवों को लिखने में इस वृत्ति का भी प्रभाव रहा है।"

आपका साहित्य विशुद्ध अनुभूतियों के बल पर खड़ा होने के कारण व्यष्टि-प्रधान है जिसमें हमें एक आदर्श व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। इस व्यक्तित्व में अहिंसा का प्राण है। यह कलाकार अहिंसा का महत्त्व भी कोरी व्यक्तिगत साधना के रूप में नहीं, प्रत्युत सामाजिक प्रगति के साधन के रूप में मानता है।

इसका विश्वास है कि अपने सबसे विस्तृत अर्थों में अहिंसा की साधना से ही व्यक्ति, समाज तथा साहित्य इस योग्य बनते हैं कि राष्ट्र एवं व्यक्ति-समूहों को सुख-शान्ति तथा उन्नति का आश्वासन देते रहें। सिपाही, सेवक तथा साहित्यिक साधक—उपाध्यायजी के तीनों रूप, उनकी अन्तर्वासिनी अहिंसा के ही त्रिविध स्वरूप हैं।

उपाध्यायजी का स्थान आधुनिक पत्रकार-जगत् तथा गद्य-लेखकों में अपना स्थायी महत्त्व रखता है। आप हिन्दी के उन मूक लेखकों में से हैं जो अपनी साधना से साहित्य पर स्थायी छाप छोड़ जाते हैं। सांस्कृतिक तथा नैतिक साहित्यकारों में आप हिन्दी के 'रस्किन' हैं। अपनी साहित्यिक प्रगति में आप तीव्र गति से निकले जा रहे है—मनन, हिन्दी-गीता, विश्व की विभूतियाँ, साधना के पथ पर, जीवन का सद्व्यय, युगधर्म, स्वतन्त्रता की ओर, जीवन की कृतार्थता—इत्यादि पुस्तकें आपकी साहित्यिक प्रगति के पद-चिह्न है। जीवन की अहिंसक पुनर्रचना में ये कृतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त आपका बहुत-सा साहित्य अभी अप्रकाशित है। भक्ति, कर्म, अध्यात्म, देवता-विज्ञान, प्राचीन भारतीय संस्कृति और दर्शन के मूल तत्त्वों पर प्रकाश डालनेवाले गंभीर निबन्ध आप समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में लिखते रहते हैं। अपनी जीवन-यात्रा से सम्बद्ध अनेक सुन्दर संस्मरण आपने हिन्दी-साहित्य को प्रदान किये हैं। आपके राजनीतिक लेखों में भी आत्म-कथात्मक पुट रहता है।

सम्पादक के रूप में आपका यश अक्षुण्ण है। आपने कई पत्र-पत्रिकाओं को अपनी सेवाएँ अर्पित की हैं। द्विवेदी-युग की 'सरस्वती' में कार्य करने के पश्चात् आपने 'मालव-मयूर' प्रकाशित किया। इसके द्वारा आप मालवा के देशी राज्यों में जागृति उत्पन्न करना चाहते थे। फिर गान्धीजी के 'हिन्दी-नवजीवन' का काम अपने हाथों में लिया। उसके लिए आपने गुजराती 'नवजीवन' तथा अँगरेजी 'यंग इण्डिया' के सत्य-अहिंसा-एकता-खादी-विषयक अनेक मार्मिक लेखों के अनुवाद किये। इसी समय से आपने अहिंसा-धर्म का व्रत ग्रहण कर लिया। आपकी 'त्यागभूमि' केवल बुद्धि की ही नहीं, आत्मा की भी भूख बुझाने आई थी। हिन्दीसंसार के कोने-कोने में राजनीतिक और आध्यात्मिक उथल-पुथल मचाने की धुन उसे सवार थी। वह मनुष्यता और स्वाधीनता को एक वस्तु मानती रही। असत्य और असमानता का उसने प्रबल विरोध किया। सामाजिक कुरीतियों और दुर्बलताओं को, स्त्रियों एवं अछूतों के उद्धार को, उसने अपना लक्ष्य माना था। वह खादी और चर्खे को भारत का युगधर्म मानती रही। लोकरुचि का उन्नयन उसका जीवनोद्देश्य रहा। अब आप सस्ता-साहित्य-मण्डल (दिल्ली) के 'जीवन-

साहित्य' का सम्पादन बड़ी कुशलता से कर रहे हैं। पत्र-सम्पादन के क्षेत्र में आपकी अपनी विशेपताएँ हैं।

आपके व्यक्तित्व का एक गुण है विनम्रता। आत्म-विज्ञापन तथा आत्म-प्रचार (प्रोपगण्डा) से दूर रहकर आपने हिन्दी की सेवा एकान्त, शान्त और मौन भाव से की है। आपकी साहित्य-साधना कैसे प्रारम्भ हुई—उसकी प्रेरणा कहाँ मिली—इसका उत्तर आपके ही शब्दों में सुनिए—"साहित्य-साधना जैसी कोई चीज मैंने अभी तक नहीं की है। मुझे अपनेको अच्छा बनाने की एक धुन है, इसके अलावा मैंने और किसी विषय की कोई साधना नहीं की। जिसे मित्र लोग साहित्य-साधना मानते हैं, उसकी शुरूआत तो अपने जातीय-सुधार-सम्बन्धी लेखों और कविताओं से हुई। जातीय सुधारवाद देश और राष्ट्र की सेवा के रूप में बदल गया। हरएक सुधारक को कुछ लिखना या बोलना पड़ता है। मैं अपने हृदय में जो भाव जैसे उठते थे, उनको ज्यों का त्यों कुछ सुधार-माँजकर रख देता था, वही लेख या कविता का रूप धारण कर लेता था। इससे अधिक मैंने कुछ नहीं किया।"—कैसी आदर्श विनयशीलता है!

आपके व्यक्तित्व के निर्माण में किन देशी-विदेशी कलकारों तथा चिन्तकों का प्रभाव पड़ा है, इसे भी आपने स्पष्ट कर दिया है—"कलाकारों की अपेक्षा सुधारकों, देशसेवकों और राष्ट्र-नेताओं का मेरे जीवन पर अधिक असर हुआ है। उनमें पहले मेरे स्वर्गीय चाचाजी हैं—वैजनाथ उपाध्याय, दूसरे हैं—आचार्य डाक्टर दिवेकर, तीसरे हैं स्वर्गीय महावीरप्रसाद द्विवेदी, चौथे लोकमान्य तिलक, पाँचवें जमनालाल बजाज, छठे महात्माजी। वैसे पं० जवाहरलाल नेहरू, विनोबा, काका कालेलकर और किशोरलाल मश्रुवाला के जीवन और विचारों से भी मैं प्रभावित होता रहा हूँ। हिन्दी-साहित्य-सेवियों में स्व० प्रेमचन्द, 'प्रसाद', रामचन्द्र शुक्ल, वियोगी हरि, जैनेन्द्र, पंत, महादेवी वर्मा और हरिकृष्ण प्रेमी की महत्ता की छाप मेरे मन पर पड़ी है। विद्वानों में डाक्टर भगवानदास के लिए मेरे हृदय में बहुत आदर का स्थान है। विदेशी कलाकारों में टाल्स्टाय को मैं बहुत मानता हूँ। बँगला के गुरुदेव और गुजराती के मुंशी तथा मराठी के वामनराव जोशी—इन कलाकारों की छाप मुझ पर है····।"

संसार में किसी को कुछ प्रिय होता है, किसी को कुछ। आपको प्रिय है सर्वत्तोभावेन स्वदेश का कल्याण। आप चाहते हैं कि विलासिता में लिप्त पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से भारतीय समाज की रक्षा हो। अपने जीवन के प्रति आप अधिक वफादार होना चाहते हैं। जिन साधनों से मानव-चरित्र विकसित एवं उन्नत होता हो—जिनसे राष्ट्र को समृद्ध और स्वाधीन बने रहने का अधिक अवसर

मिलता हो—वही वस्तुएँ आपको प्रिय हैं। जीवन से आपका अभिप्राय व्यक्तिगत जीवन से नहीं, सामूहिक जीवन से है। व्यक्ति अपने-आपको समष्टि में डुबो दे और समष्टि से व्यक्ति को भी ऊँचा उठने की प्रेरणा मिले, यही आप चाहते हैं। रहस्यवाद, प्रगतिवाद, छायावाद आदि में से यदि कोई एक आपको चुनना या पसन्द करना पड़े, तो आप शायद रहस्यवाद को अधिक पसन्द करेंगे।

आपके कई पत्र हमारे पास संगृहीत हैं जिनसे आपके व्यक्तित्व पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है—कुछ अंश देखिए—"....मैं मूलतः साहित्यिक या साहित्य-सेवी नहीं हूँ। समाज-सेवा या समाज-सुधार के भाव मन में वचपन से ही थे। यह काम विना विचारों की अभिव्यञ्जना के हो नहीं सकता था। मैं अपने भावों और विचारों को थोड़ा-बहुत माँजकर ज्यों का त्यों प्रदर्शित करने लगा—मेरी गिनती लेखकों में हो गई। मेरा लक्ष्य लोकहित ही था, अब भी है।" प्रश्नोत्तर के रूप में भी कुछ अंश और देखिए—(प्रश्न) 'क्या हिन्दी में साहित्य-सेवा से लेखक जीवन-निर्वाह कर सकता है ?' (उत्तर) 'मेरे विचार में प्रथम श्रेणी के लेखक ही लेखन-द्वारा जीवन-निर्वाह कर सकते हैं। इस विषय में मेरे विचार श्रीवियोगी हरिजी के विचारों से मिलते हुए हैं जो उन्होंने कराचीवाले अधिवेशन में व्यक्त किये हैं।' (प्रश्न) 'राष्ट्रभाषा हिन्दी का कैसा स्वरूप आप पसन्द करते हैं ?' (उत्तर) 'हिन्दी अपने शुद्ध संस्कृत-प्रधान रूप में राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। या तो उसको अपना रूप बदलना होगा, या हमें नई भाषा वनानी होगी। हिन्दुस्तानी वनती जा रही है—वह शुरू में अटपटी रहेगी, वाद में हजम हो जायगी।' (प्रश्न) 'आपकी सर्वोत्तम कृति कौन-सी है ?' (उत्तर) 'मेरे पास दरअसल कोई पुस्तक है ही नहीं—विचार, भाव और कुछ टूटी-फूटी साधना है। वही विविध लेखों, पुस्तकों आदि में यत्र-तत्र अभिव्यक्त हुए हैं। दूसरों की भी किसी एक पुस्तक का नाम नहीं ले सकता जो मुझे प्रिय लगी हो। हाँ, व्यक्तियों में महात्मा गांधीजी का नाम ले सकता हूँ, जो मुझे सवसे ज्यादा अपील करते हैं—संतों में एकनाथ और रामकृष्ण परमहंस—प्राचीन ग्रन्थों में गीता और भागवत का नाम ले सकता हूँ।'

आपके पत्रों में कुछ अंश ऐसे भी हैं, जो लेखन-कार्य तथा पत्रकारों के जीवन से सम्बद्ध हैं। एक-आध देखिए—"मेरी पुस्तकें मेरे पास नहीं रहतीं। यह मेरी अव्यवस्थितता की हद तक पहुँचनेवाली 'उदारता' की करतूत है! कभी-कभी मुझे खुद उनके अभाव में कष्ट उठाना पड़ता है, किन्तु जब कोई चाह से माँगता है, तो 'नहीं' कहना भारी पड़ता है।"—"....हमलोग ज्यादातर अध्ययन से लिखते हैं। हमें अनुभव से लिखने का प्रयास करना चाहिए।"—"....मेरे लेख और पुस्तकें देखकर आप वहुत प्रभावित हुए हैं। वास्तव में मनुष्य का आचार और जीवन ही

बिछुड़ों को पुनः मिला लें
यह 'नक्श दुई' मिटा दें
वह 'नया शिवाला' * बने शीघ्र
विघ्नों का करें सफाया
आया, नवीन युग आया
जिसको समझा था सपना है, वह आज सत्य बन आया!

भाषा-संस्कार

श्री रमावल्लभ चतुर्वेदी

हिन्दी में खटकनेवाले कुछ शब्द

आज हिन्दी मे लिखनेवालों की बाढ़-सी आ गई है। जिसे देखो वही गद्य-लेखक या पद्य-लेखक बनने की धुन में दौड़ा जा रहा है। इतने-इतने कलाविद् पा हिन्दी धन्य हुई होती। पर एक आँच की कसर से सारा पकवान गोबर हुआ जा रहा है। जिसे जरा कुछ हाथ लगा, चट कलमबन्द कर छापाखाने की राह लेता है। 'काता और ले दौड़ी'—इस मनोवृत्ति ने और जो बुराई की सो की, हिन्दी का सँवरा-सुथरा रूप बहुत-कुछ बिगाड़ा है। भारतेन्दु और उनके बाद के आचार्यो ने हिन्दी के रूप की निकाई निखारने में बहुत मेहनत की है। उनका ध्यान इस बात पर भी रहा है कि हिन्दी का साज-सँवार ऐसा हो जो उसकी प्रकृति के प्रतिकूल न हो। इस काम में हमारे ये बुजुर्ग सफल भी हुए। इनका समय भाषा-संस्कार का समय कहा जाता है। पर आज हम नये लेखक उनकी मेहनत पर चौका लगा रहे हैं—शब्दों के अर्थ, ध्वनि आदि का विचार कुछ करते नहीं। जिस शब्द या मुहावरे का जो अर्थ हम खुद समझते हैं उसीमें उसका प्रयोग कर डालते है। इससे भाषा असमर्थ, भोंडी और कहीं-कहीं तो अर्थ-हीन भी होती जाती है। हमारी इन भद्दी भूलों के लिए कभी-कभी भाषा-मर्मज्ञ चेतावनी भी दे दिया करते है। पर हमारे मनचले 'कवियशःप्रार्थी' अपनी भूलों का सुधार नहीं करते। वे 'भाव अनूठो चाहिए, भाषा कोऊ होय' की ढाल ओड़ भूल करते जाना ही पसन्द करते हैं। और, आज के इस भेड़-धसान में एक पर एक होनेवाली भूल भाषा के मुँह पर धूल डालती जाती है। ये अनूठे तार्किक

* उर्दू के महाकवि सर इकबाल की मशहूर कविता।

टुक विचार करें कि यहाँ 'भाषा कोऊ होय' कहा गया है, 'कैसिहुँ होय' नहीं। यह सही है कि खूब सजी-सँवरी भाषा में भी 'अनूठो भाव' न हो तो वह शब्द-जाल ही होगा—सेमर का फूल ही कहा जायगा। पर यह भी भूलना न चाहिए कि लूली-लँगड़ी और अर्थ का अनर्थ करनेवाली भाषा में कही गई 'अनूठी' बात हमारा दिल नहीं फड़का सकती। भाषा और भाव अन्योन्याश्रित हैं। मीठे गंगाजल में केवड़े से बसाया ओला घोलने से जो मजेदार शर्बत तैयार होगा वह क्या खारे समुद्र-जल से हो सकता है?

हिन्दी को सूपनखा बनाने का एक प्रयोग पूज्य गांधीजी की असीस से हो रहा है। यह प्रयुक्त हिन्दुस्तानी भाषा के क्षेत्र में पाकिस्तानी बटवारा है। यह न हिन्दी है न उर्दू। क्या है, सो इसके जनक जानें। यह भाषा समझ में आने के लिए तो लिखी भी नहीं जाती। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण आजकल का 'हरिजन-सेवक' है। कुछ दिन पहले गांधीजी के आदर्श और उपदेश के जिज्ञासु भक्तों को यह पत्र तृप्त करता था—अब सिर-दर्द पैदा करता है। 'हरिजन-सेवक' की भाषा को हम 'आर्षप्रयोग' समझ सह लें और स्वयं उससे दूर रहें!

बँगला से उल्था करनेवालों ने बिना समझे-बूझे हिन्दी की हत्या की है। इन लोगों ने बँगला मुहावरों तक का उल्था कर डाला है। एक उदाहरण देखिए। हिन्दी में शंखध्वनि व्यक्त करने के लिए 'धू-धू' शब्द है। पर बँगला में यही शब्द आग की लपटों की ध्वनि व्यक्त करता है। बँगला से उल्था करनेवालों ने लिख मारा—"चिता धू-धू करके जलने लगी"। हिन्दी में चिता 'धाँय-धाँय' जलती है और शंख 'धू धू' बजता है। पर उल्था करनेवालों की कृपा से अब चिता से भी शंखध्वनि सुन पड़ती है! इसी तरह, हिन्दी-व्याकरण के अनुसार 'भिखारी' और 'पागल' का स्त्रीलिंग रूप 'भिखारिन' और 'पगली' है। पर बँगला की जूठी चाट हमने हिन्दी को 'भिखारिनी' ही नहीं, 'पागलनी' भी बना दिया है। मेरे पूज्य पिताजी * हिन्दीवालों के मुँह 'धन्यवाद' सुन बहुत कुढ़ते थे। पिछले साल किशोरलाल भाई † ने भी कहा कि तुम हिन्दीवाले अँगरेजी 'थैंक्स' के लिए 'धन्यवाद' कहते हो; पर मराठी-गुजराती में इसका अर्थ यह नहीं माना जाता—अँगरेजी 'थैंक्स' का अर्थ है उपकार के बदले कृतज्ञता दिखाना और 'धन्यवाद' का अर्थ है शाबाशी देना; इसलिए 'थैंक्स' की जगह 'धन्यवाद' समीचीन नहीं है। लेकिन हम तो बंगालियों की भूल आँख मूँद अपनाते हैं। मारकेशी (Marxist)

* स्वर्गीय हास्यरसावतार पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी।

† श्रीकिशोरलाल-घनश्यामलाल मश्रूवाला।

बहुत सही है, बड़ा सत्य है, यह चिरचपल प्रकृति का कहना
यौवन वह रँगरेज कि जिसने चादर कभी न रँगी रँगीली
प्राण तुम्हारा भार—भार से मैं तो टूटा हुआ धीर हूँ !

सारी रात सनेह देखकर मनमारे निर्वाण चुप रहा
खिलते देख फूल को नभ में धरती का वीरान चुप रहा
यह आकाश फूट जाता है नित अँधियाली में नक्षत्र-सा
खिली चाँदनी देख चाँद देकर अपना ईमान चुप रहा
विश्व तुम्हारा जाल—जाल में मैं तो उलझा हुआ कीर हूँ !

भूलों की दीवार बीच में फाँदे तेरी याद किस तरह
मिटा रहा मनु की श्रद्धा को मानव का उन्माद किस तरह
पीकर तीव्र हलाहल नीति-नियम वह जग से सीख रहा हूँ—
मैं, तुमसे ही की जाती है तेरी ही फरियाद किस तरह
यह संसार पींजरा तेरा जिसका मैं तो नव असीर * हूँ !

दुख के तालों पर आँसू से मैंने सुख का गान बनाया
बारबार ले-ले तेरे अभिशापों को वरदान बनाया
दिल भी पत्थर का ही होगा, इतना भेद न जाना मैंने—
भ्रम में पूज-पूजकर तुमको पत्थर से भगवान बनाया
मिट जाये जो मरण-चरण से, मैं तो जग की वह लकीर हूँ !
रूप तुम्हारा लक्ष्य, उसी पर मैं तो छूटा हुआ तीर हूँ !

•

हमारा पुस्तकालय

'साहित्यिक पारिभाषिक शब्दावली' †

हिन्दी के दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक आदि पत्रों के पढ़ने पर पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में बड़ी उलझन पैदा हो जाती है; क्योंकि उनकी एकरूपता

* असीर=कैदी।

† सम्पादक—श्रीप्रेमनारायण टण्डन, एम०ए०, साहित्यरत्न। प्रकाशक—विद्यामन्दिर, रानीकटरा, लखनऊ। पृष्ठ-संख्या १६३, सजिल्द, मूल्य—साढ़े चार रुपये।

कहीं भी परिलक्षित नहीं होगी—सर्वत्र एक स्वच्छन्दता की स्वच्छन्द गति देखने में आती है। लेखक और सम्पादक इस स्वच्छन्दता का उत्तरदायित्व अंग्रेजी तथा अन्य विदेशी भाषाओं पर डाल देते हैं। हिन्दी के लेखक और पत्रकार प्रमुखतः अंग्रेजी के माध्यम से ही आधुनिक ज्ञान-विज्ञान एवं विश्वहृदय के विविध स्पन्दनों का परिचय और अनुभव प्राप्त करते हैं। हमारे लिए सारा विश्व-जीवन ही जैसे अंग्रेजी के माध्यम से दीखता है—अभिव्यक्त होता है। दैनिक घटनाओं की वार्ता भी, टेलीप्रिंटर पर, अंग्रेजी वर्णमाला और भाषा में ही गुम्फित होती है। अंग्रेजी की यह व्यापी (एजेन्सी) निश्चय ही हमारी अभिव्यक्तियों में गड़बड़ी पैदा करती है। परन्तु अपनी पौने दो सौ वर्षों की सुदीर्घ दासता के ब्रिटिश उपहार के कारण हमें इस अभिशाप को वहन करना ही पड़ा है, और सम्भवतः, मुक्ति का वरदान देकर भी कुछ आगामी वर्ष भी हमें इस अभिशाप-वहन के लज्जाजनक कष्ट से मुक्त न कर सकेंगे। इस अभिशाप की लज्जा हमें सदा पारिभाषिक शब्दों की एकरूपता की आवश्यकता का दुखद अनुभव कराती रही है। किन्तु जिस प्रकार हिन्दी-व्याकरण को एकरूपता देने में हम प्रमादमुक्त न हो सके, उसी प्रकार पारिभाषिक शब्दों को एकरूपता देने की हमारी चेष्टा भी प्रमादग्रस्त रही है। प्रसन्नता की बात है कि कुमार श्रीरमेशनारायण टण्डन ने इस दिशा में तत्परता के साथ कदम बढ़ाया है। उनके इस प्रारम्भिक सत्प्रयास का हम सहर्ष स्वागत करते हैं। यद्यपि उस दिशा में भावी अभियाताओं के लिए यह पथप्रदर्शन-सा ही है तथापि अभी तो यह प्रारम्भिक सत्प्रयास-सा ही रह गया है और स्वयं इस दिशा में भावी अभियानो की आवश्यकता सिद्ध करता है। ऐसा कुछ मालूम होता है कि यह पुस्तक जल्दबाजी में तैयार की गई है। सम्पादक के साथ ही प्रकाशक ने भी उजलत से काम लिया है; क्योंकि छपाई की भी बहुत-सी भूले रह गई हैं। प्रारम्भ से ही भूलें शुरू होती हैं। सम्पादक की उपाधि में 'साहित्य-रत्न' के स्थान पर 'सा० रत्न' लिखा है। हिन्दी मे इस प्रकार का संक्षिप्तीकरण न प्रचलित होने योग्य है और न शोभन ही है। सम्पादक का पद बहुत बड़ा है और कई पदों से बना है; परन्तु उसकी छपाई में कही भी विराम से काम नही लिया गया है—अविराम छपा है—'रिसर्च स्कालर लखनऊ विश्वविद्यालय' और 'संपादक हिन्दी-सेवी-संसार'। एक तो 'सम्पादक' के बाद कही विराम नही है, दूसरे इस तरह लिखना भी ठीक नही है—हिन्दी की परम्परा के विरुद्ध है। हमारी परम्परा तो 'हिन्दीसेवी-संसार'-सम्पादक लिखने-बोलने की ही है। अपनी भाषा एवं संस्कृति की स्वतंत्र परम्परा की रक्षा से आधुनिकता मे काई बाधा नही होती। प्रस्तुत पुस्तक की उपयोगिता तो हम निर्विवाद स्वीकार करते है;

परन्तु इसमें बरती गई स्वच्छन्दता के हम समर्थक नहीं हो सकते। श्रीकालिदास कपूर की भूमिका में भी समस्त पदों में योजक चिह्नों का वहिष्कार किया गया है। प्रायः अनुस्वार के स्थान पर चन्द्रविन्दु और चन्द्रविन्दु की जगह अनुस्वार से काम लिया गया है। इसी प्रकार 'दस' के प्रचलित प्रयोग को छोड़कर 'दश' के अप्रचलित प्रयोग को तरजीह दी गई है—जब दोनों ही प्रयोग शुद्ध हैं, तब प्रचलन को ही प्रधानता मिलनी चाहिए। सम्पादक के कथनानुसार इस 'शब्दावली' को प्रोफेसर गुलाबराय, डॉक्टर रामविलास शर्मा, डॉक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा और प्रोफेसर कन्हैयालाल सहल के संशोधन-परिवर्द्धन का सुअवसर या सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। फिर भी, भूमिका-लेखक ने समुचित सुझाव निमंत्रित किये हैं और हम इसका समर्थन करते हैं। हमारा भी यही अनुरोध है कि हिन्दी के भाषा-विशारद इस दिशा में ध्यान देकर 'शब्दावली' को सुसम्पन्न तथा दोषहीन बनाने का शुभ प्रयास करें। पुस्तक में लगभग चार हजार अँग्रेजी-शब्दों के शुद्ध हिन्दी-रूपान्तर देने की चेष्टा की गई है। अभी कई सौ ऐसे शब्द रह गये हैं जो इस शब्दावली में आ सकते थे। उदाहरणार्थ, हम अकारादि क्रम में एक छोटे-से शब्द 'ऐक्सिडेण्ट' पर ही विचार करते हैं। इस शब्द का रूपान्तर संभवतः इस शब्दावली में इसलिए नहीं है कि यह अत्यन्त प्रचलित शब्द है और लोग इसका हिन्दी-पर्याय सरलता से समझ लेते हैं। पर, हमें शब्दों की प्रचलितता-अप्रचलितता के प्रश्न से अलग हटकर कोश की सम्पूर्णता पर ध्यान देना चाहिए। हमारे कोश केवल हिन्दी-भाषियों अथवा हिन्दी-लेखकों के लिए ही नहीं होते। हिन्दी को हमने राष्ट्रभाषा के समुन्नत सिंहासन पर आसीन कर दिया है। अब, हमारा उत्तरदायित्व यह है कि हम उसे समस्त प्रान्तीय भाषाओं की पथ-प्रदर्शिका बनायें। हाँ, हिन्दी में 'ऐक्सिडेण्ट' का रूपान्तर हम अधिकांशतः 'दुर्घटना' और कभी-कभी 'घटना' भी करते हैं। परन्तु, ये रूपान्तर तो साधारण बोलचाल के लिए ही हैं। तर्कशास्त्र में तो इसका रूपान्तर 'संयोग' होता है। केवल शब्द को प्रचलित समझकर छोड़ देने से ही कर्त्तव्य की समाप्ति कहाँ हुई? साधारण बोलचाल से पृथक्, शब्दों के जो विशेष अर्थ होते हैं उनका भी दिया जाना अनावश्यक नहीं समझना चाहिए। 'ऐब्रीविएशन' के तीन रूपान्तर दिये गये हैं—संकेताक्षर, संक्षेप, संक्षिप्त रूप। ये रूपान्तर तो प्रायः शब्द को जातिवाचक-रूप में ग्रहण करने पर ही पर्याप्त हैं। यदि शब्द के भाववाचक रूप का ग्रहण किया जाय तो इसका रूपान्तर 'संक्षिप्तीकरण' होगा। इसी प्रकार 'ऐबसोल्यूट' के नौ रूपान्तर दिये गये हैं; परन्तु इतिहास अथवा शासन-विज्ञान के क्षेत्र में इसका जो रूपान्तर होना चाहिए, वह उपेक्षित ही रह गया है; इसका शासन-सम्बन्धी अर्थ होता है 'निरंकुश'; 'निरंकुश शासक' का प्रयोग प्रचलित भी है;

[illegible] चाहिए था। इसी प्रकार [illegible] परन्तु [illegible] और 'पार्लामेन्ट'-जैसे [illegible] 'आर्गन' अथवा [illegible] 'अनुपात्य' मिला है। [illegible] संख्या में संजोया है। [illegible] 'अद्वैतवाद' प्रचलित है ; परन्तु इस [illegible] 'ब्रजिम' का . दो रूपान्तर दिये [illegible] 'आईसोलेट' के [illegible] 'अनुपातिक उत्पादन' हो गया है। [illegible] 'पूंजीपति' उपेक्षित रह गया है। [illegible] 'निर्देश' भी रह गया है। 'कम्युनिज्म' का एक रूपान्तर 'साम्यवाद' [illegible] गया। प्रायः इसका रूपान्तर लोग 'साम्यवाद' ही करते हैं जो [illegible] के लिए पर्याप्त नहीं है। 'कम्युनिस्ट' और 'कम्युनिस्टिक' के [illegible] पहले का रूपान्तर 'समष्टिवादी' के स्थान पर 'समष्टिवादात्मक' हो गया है और दूसरे का हो गया है 'समष्टिवादी' ! 'कान्सेन्ट्रेट' का मुख्य रूपान्तर 'अभिपुञ्जित-करना' उपेक्षित रह गया है और जो रूपान्तर किया गया है उस 'प्रतिकारिक' में 'प्रतिकारिक' हो गया है ! ये निश्चय ही छपाई की भूलें हैं, जो प्रायः कोश में नहीं पायी जातीं। पर 'कन्वीनन' के रूपान्तर 'निमन्त्रण' का छूट जाना हम छपाई की भूल नहीं मानते। 'कन्ट्राट' का एक रूपान्तर 'निर्माण' दिया गया है ; परन्तु 'निर्माण करना' ही उपयुक्त रूपान्तर होगा, क्योंकि यह क्रिया है, संज्ञा नहीं। 'कन्वेन्शन' के जो रूपान्तर दिये गये हैं उनमें 'परम्परा' और 'समारोह' का भी स्थान होना चाहिए था। 'करप्शन' के रूपान्तरों में भी 'भ्रष्टाचार' और 'घूसखोरी' का स्थान अपेक्षित है। 'क्रिएटिव' के रूपान्तरों में 'कारगिरी' शब्द कहाँ से आया और इसका प्रयोजन क्या है ? यह भी वांछनीय नहीं कि 'क्रिटिक' का साधारण रूपान्तर 'आलोचक' उपेक्षित कर दिया जाय। 'डेली' का रूपान्तर 'दैनिक पत्र' साधारणतः नहीं होना चाहिए था और 'प्रतिदिन' भी हरगिज न छूटना चाहिए था ; पर हुआ ऐसा ही है ! 'डारविनिज्म' का एक रूपान्तर 'डारविनवाद' और 'डिफार्मिटी' का 'विकृति' देना आवश्यक था। कुछ शब्दों के रूपान्तर हम यहाँ दे रहे हैं जो इस कोष में नहीं दिये गये हैं। अपने रूपान्तरों को हमने कोशगत मूल शब्दों के आगे कोष्ठकों में रखा है। यथा—डाइरेक्टली (प्रत्यक्षतः), एलिमेण्टल (तात्विक), फ्रीडम अव प्रेस (पत्र-स्वातंत्र्य तथा प्रकाशन-स्वातंत्र्य), जेनस

(मूल जाति), ग्रैंज्योर (शानदारी), हिडोनिज्म (विलासवाद), हिडानिस्ट (विलासवादी), इनडाइरेक्ट स्पीच (अप्रत्यक्ष कथन), इण्टर्नल सेन्स (आन्तरिक बुद्धि), इनट्यूशिव (सहज), इनवैरिएबुल (अपरिवर्तनीय), इनवेण्ट (आविष्कार करना), जुबिलेशन (हर्षोत्फुल्लता), जुबिलेण्टली (हर्षोत्फुल्लता से), लेबोरेटरी (प्रयोगशाला), लेट (विलम्बागत), लीफलेट (पृष्ठिका, पत्रक), लेक्चरर (व्याख्याता), लाइट (प्रकाश), लाइट लिटरेचर (मनोरंजक साहित्य), लोन वर्ड (गृहीत शब्द), लॉयल (एकनिष्ठ), मेमोरैण्डम अव एसोसिएशन (संघ-संस्थापन-पत्र), मेमोरियलाइज (स्मारकीकरण करना), मेण्टैलिटी (मन:प्रवृत्ति), मोडिफिकेशन (सरलीकरण), मोनीज्म (एकेश्वरवाद), मोनीस्ट (एकेश्वरवादी), मोनोटॉनस (नीरस), मोनोटोनी (नीरसता), मौरलिस्ट (नैतिकतावादी), मोरालिटी (नैतिकता), मौरलाइजेशन (नैतिकीकरण), मौरलाइज (नैतिकीकरण करना), मोटो (आदर्श वाक्य या आदर्श कथन), मल्टिप्लिकेटिव (गुणीकरणवाचक), म्युजिकल (सांगीतिक), नावेलेट (लघु उपन्यास), न्युक्लियस (मूल), औबजेक्टिव (वस्तुनिष्ठ), औब्लिगेशन (आभार), औब्सोलीटनेस (प्रयोगहीनता), ओनोमेटोपोयटिक (ध्वनिमूलक), ओपेन लेटर (खुली चिट्ठी), ओपेनली (खुलेआम), औपेराटिक (गीतिनाट्य-सम्बन्धी), ओपाइन (मत-प्रकाश करना), औप्शन (विकल्प), ओरल (जबानी), ओरल एविडेन्स (जबानी गवाही), ओरेशन (भाषण), ओरेटरी (भाषण-कला), और्गी (ताण्डव-नृत्य), ओरियेण्टेशन (पूर्वीकरण, प्राच्यीकरण), पैरोडी (विडम्बना), पार्ज (पदविन्यास करना या पद-अनुच्छेद करना), पार्शल (पक्षपातपूर्ण), पार्टी स्पिरिट (दलगत भावना), पिक्युलियर (विचित्र), पिक्युलियरिटी (विचित्रता), परसेण्ट (फी सदी), परसनीफाई (मानवीकरण करना), पर्सपेक्टिव (पहलू), फिलैंथ्रौपिक (लोकोपकारी), फाइलोलोजिस्ट (भाषावैज्ञानिक), पोसपोनमेण्ट (स्थगन), प्रेसिडेन्स (परम्परा), प्रेसिडेण्ट (परम्परागत), प्रेमिसेज (अहाता), पब्लिक स्पिरिट (लोकसेवा-भावना), पब्लिसिस्ट (प्रचारक), पब्लिसिटी (प्रचार), प्योर इंटेलेक्ट (शुद्ध बुद्धि), कोट (उद्धृत करना), रैशनलिस्ट (तर्कवादी), रेकर्ड (लिखित प्रमाण), रीडिस्ट्रीब्यूशन (पुनर्वितरण), रीफाइन (बारीक करना), रीफाइण्ड (बारीक), रीफाइनमेण्ट (बारीकी), रीनाउन (विश्रुति), रीनाउण्ड (विश्रुत), रिपब्लिकन (प्रजातंत्रीय), रिपब्लिकनिज्म (प्रजातंत्रवाद), रीक्वेस्ट (अनुरोध), रेस्पेक्टिव (यथाविधि), राइवलरी (प्रतिद्वंद्विता), रयूमर (अफवाह), साइंटिफिक एज (वैज्ञानिक युग), स्कल्पटर

(मूर्तिकार), स्कल्पचर (मूर्तिकला), सेन्सेशन (स्फुरण तथा सनसनी), सेन्सेशनल (सनसनीदार), सेन्सिबुल (विवेकी), सेन्सिटिव (भावुक), सेक्सुअल एपीटाइट (कामक्षुधा), साइलेण्ट (चुप या मौन), सिम्प्लिफिकेशन (सरलीकरण तथा संक्षिप्तीकरण), सोशलाइजेशन (सामाजिकीकरण), सॉनेट (चतुर्दशपदी), स्पेशस (कुशादा), स्पीक (बोलना या भाषण करना), स्फियर (क्षेत्र), स्पिरिट (आत्मा तथा भावना), स्प्रिंग (झरना), स्टैटिस्टीकल (अंकशास्त्रीय), स्ट्रेन (आयास), स्ट्रेस (जोर देना), सबजेक्ट टु कन्फर्मेशन (स्वीकृत्यपेक्ष), सबजेक्टिव (आत्मनिष्ठ), सब्लिमेशन (उदात्तीकरण), सब्लाइम (उदात्त), सक्सीड (उत्तराधिकारी होना), सजेस्ट (सुझाव रखना), सजेशन (सुझाव), सुपरफ्लुइटी (अनावश्यकता), सुपरनैचरल (प्रकृत्युत्तर), सुपरसेन्सुअल (इन्द्रियोत्तर,अतीन्द्रिय), सुप्रीम (सर्वोच्च), सराउंडिंग (पड़ोस), सिन्थेसिस (समन्वय), सिस्टमेटाइजेशन अव इम्पल्सेज (संवेदनाओं का नियमितीकरण), टैलेण्टेड (गुणसम्पन्न), टिपिकल (मूर्तिमान), अम्पायर (निर्णायक), अन-ऐक्सेण्टेड (स्वराघातहीन), अन-अफेक्टेड (अपरिवर्तित तथा अप्रभावित), अण्डररेट (कम मूल्यांकन करना), अण्डरटेकिंग (प्रतिज्ञा), यूनिफॉर्मिटेरियनिज्म (एकरूपतावाद), यूनिवर्सल (सार्वभौम), अनलाइक (विपरीत), अपटुडेट (अद्यतन), अरबन (शहरी), अरबैनिटी (शहरियत), यूसेज (प्रयोग), वैरिएशन (परिवर्तन या हेरफेर), वैराइटी (विविधता), वर्सेटाइल (बहुमुखी), विजुअलाइज (कल्पना करना तथा अनुमान करना), वार्ड (इलाका या महल्ला), वेस्टेज (बर्बादी)—इत्यादि। इन रूपान्तरों का होना भी आवश्यक था। ये रूपान्तर पुस्तक मे दिये हुए रूपान्तरों से कही युक्तिसंगत और प्रचलित है। इक्जीक्यूशन, इक्जीक्यूटर, इक्जीक्यूटिव आदि के रूपान्तरों का भी उल्लेख आवश्यक था। हमे याद है कि इन शब्दों के गलत रूपान्तर के कारण एक सम्मानित हिन्दी-दैनिक उपहासास्पद बन गया था। मूल अंग्रेजी मे था—'कांग्रेस प्रेसिडेण्ट मौलाना आजाद इज करेसपांडिंग विद द वायसराय फौर रिलीज अव पोलिटिकल प्रिजनर्स ऐण्ड कैन्सिलेशन अव अन-इक्जीक्यूटेड वारंट्स'। इसका अनुवाद उक्त पत्र ने किया था—"राष्ट्रपति मौलाना आजाद वाइसराय के साथ राजबन्दियों की रिहाई और फाँसी की सजा पाने का हुक्म पानेवालों की फाँसी की सजा रद्द करने के बारे में पत्रव्यवहार कर रहे है!" अनुवाद होना चाहिए था—"राष्ट्रपति मौलाना आज़ाद राजबन्दियों की रिहाई और अकार्यान्वित वारंटों के रद्द करने के बारे मे वाइसराय से पत्रव्यवहार कर रहे है।" इक्सपैन्शनिस्ट के विस्तारवादी, साम्राज्यवादी, साम्राज्यविस्तारवादी आदि रूपान्तरों का भी उल्लेख आवश्यक था।

'आइडियलाइजेशन' का रूपान्तर 'आदर्शीकरण' के बदले 'आदर्शिकरण' हो गया है! 'इम्पर्सनैलिटी' का रूपान्तर भी 'निर्वैयक्तिकता' की जगह 'नैर्व्यक्तिकता' हो गया है! इस तरह, छपाई की साधारण भूलों की संख्या तो अपरिमित है। 'भौतिकवादी' के स्थान पर 'भौतिकतावादी' का शुद्ध प्रयोग एक स्थल में किया गया है; किन्तु दूसरे स्थान में 'भौतिकतावाद' का प्रयोग न कर पुनः 'भौतिकवाद' का ही प्रयोग किया गया है। इन समस्त त्रुटि-संकेतों और सुझावों के बावजूद हम सम्पादक और प्रकाशक के इस प्रयास का स्वागत करते हुए उन्हें बधाई देते हैं। साथ ही, हम अपना यह स्वतंत्र मत प्रकाशित करते हैं कि इस प्रकार के प्रामाणिक पारिभाषिक कोश तभी तैयार हो सकते हैं जब सम्पादकाचार्य श्रीअम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, श्रीबाबूरावविष्णु पराड़कर, डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा, डॉक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र, प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल, श्रीलक्ष्मणनारायण गर्दे, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीरामचन्द्र वर्मा-जैसे सुयोग्य भाषा-शास्त्रियों की एक उपसमिति सम्मिलित रूप से प्रयास करे। प्रकाशक अन्य विद्वानों से कोश तैयार करा सकते हैं; पर उपर्युक्त विद्वानों से उसको पूर्णतः संशोधित-परिवर्द्धित करा लेना चाहिए। क्या ही अच्छा हो कि अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन उपर्युक्त विद्वानों के सहयोग से इस कार्य को सम्पादित करे। —**रामदयाल पाण्डेय**

•

'सिद्धान्त और अध्ययन' *

विद्यावयोवृद्ध श्रीगुलाबरायजी साहित्य और दर्शन के मर्मज्ञों में से हैं। रचनात्मक व्यङ्ग्य-हास्य-साहित्य आदि के अतिरिक्त अपने गम्भीर निबन्धों और सूक्ष्म समालोचनाओं के लिए भी वह विशेष विख्यात हैं। उन्हींके परस्पर-सम्बद्ध अठारह आलोचनात्मक साहित्यिक निबन्धों का संकलन प्रस्तुत पुस्तक है। इन निबन्धों का विषय अलङ्कार-शास्त्र है। इनमें पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति के अनुसार देशी-विदेशी अलङ्कार-शास्त्रियों के सम्प्रदायों और उनके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सिद्धान्तों पर संक्षिप्त—किन्तु स्पष्ट—प्रकाश डाला गया है। साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी पूर्वी-पश्चिमी सिद्धान्तों के वर्गीकरण, तुलनात्मक विवेचन एवं समीकरण के कारण प्रायः प्रत्येक सैद्धान्तिक विषय व्यापक और विशद हो गया है।

* लेखक, श्रीगुलाबरायजी एम० ए०। प्रकाशक—प्रतिभा-प्रकाशन-मन्दिर, दिल्ली। छपाई-सफाई साधारण, मूल्य—३)।

इन सिद्धान्तों के स्थापन और विवेचन में कोरे संस्कृत के पण्डितों का-सा दुराग्रह कहीं नहीं देखा जाता। प्रत्येक नवीन सिद्धान्त को प्राचीन या उसकी छाया सिद्ध करने का भी प्रयास नहीं किया गया। साथ साथ लम्बे संस्कृत के पारिभाषिक समस्त शब्दों को कुल्हाड़ा पाण्डित्य की धाक जमाने की भी कोशिश नहीं की गई। फिर भी पारिभाषिक विषयों के विश्लेषण में आलोचक की पैनी नजर छिपाये नहीं छिपती और उसमें हिन्दी के माध्यम से, शास्त्र सिद्धान्तों का पाश्चात्य शैली में, मनोविज्ञानिक अध्ययन उपस्थित कर दिया है। जिन्हें आचार्य शुक्ल, डाक्टर श्यामसुन्दरदास आदि के विवेचन-विश्लेषण का स्वास्थ्य मिल चुका है, वे इस पुस्तक से अधिक लाभान्वित होंगे; क्योंकि उक्त विद्वान लेखक ने संस्कृत के क्लिष्ट अलङ्कारशास्त्र को समीक्षा की कसौटी पर कसकर हिन्दी की सुगमता में बदलने की जैसी चेष्टा की है, पाश्चात्य सिद्धान्तों के गुण-दोष भी उसी सरल स्वर में भरने की वैसी ही योग्यता दरसाई है। डाक्टर झा के अनुसार अरस्तू, होरेस, ड्राइडन, क्रोचे आदि के लिए लक्षणग्रन्थ चाहे न हों, पर यह परिष्कृत शैली उन्हीं समीक्षकों की देन है, अन्यथा हिन्दी का इस विषय का साहित्य, विद्यावाचस्पति पं० शालग्राम शास्त्री की ('साहित्यदर्पण' की) 'विमला' टीका से, कदाचित् ही आगे बढ़ पाता. जब शास्त्रीजी भी अलङ्कार-शास्त्र का उद्देश्य भलीभाँति न समझ पाये थे, यह उन्हींके निबन्धों से सिद्ध हो जाता है !

"अलङ्कार शोभा को अलं अर्थात् पूर्ण या पर्याप्त करने के कारण अलङ्कार कहलाते हैं।" (पृ० नं० २)—गुलाबरायजी की इन उक्ति में सूक्ति की सुन्दरता है। ऐसे ही ध्वनि-सम्प्रदाय का विश्लेषण करते हुए उन्होंने पते की बात कही है—"मुक्तक काव्य के मूल्याङ्कन में इस सम्प्रदाय को विशेष मान मिला।" (पृ० १०)—वस्तुतः प्रबन्ध-व्यङ्ग्य की सूझ ध्वनि की सूक्ष्म व्यापकता की ही पहचान है, मूल रूप में तो स्फुट पद्यों के एक-एक पद, उपसर्ग, निपात आदि के व्यङ्ग्य उन्हें उत्तमोत्तम काव्य की कोटि तक ही नहीं पहुँचाते, 'प्रबन्धायमान' (प्रबन्ध-काव्य के बराबर) भी कहला देते है। ध्वनि-काव्य के लिए व्यङ्ग्यों की प्रधानता मात्र अपेक्षित है, विषय-वस्तु का विशिष्ट चुनाव अथवा काव्य का तुन्दिल आकार-प्रकार नही।

ऐसी बहुत सारी विशेषताओ के बावजूद भी संभवत. लेखक के संस्कृत के माध्यम से इस शास्त्र मे पूर्ण प्रविष्ट न हो सकने के कारण ही पुस्तक मे प्रयुक्त संस्कृत शब्दों तथा अर्थो मे पर्याप्त कुरूपता आ गई है—११४वें पृष्ठ मे—'दृश्यन्ते विषमोन्नताश्च वलयो भित्तौ समायामपि' का ऐसा हास्यास्पद अर्थ किया है जैसा संस्कृत का अतिसाधारण जानकार भी नहीं कर सकता ! चित्र-

कला के छायालोक (Light and Shade) की सूझ अच्छी है ; किन्तु 'वलि' शब्द के वहुवचन 'वलयो' को "वलयों अर्थात् कड़ों की मुटाई" कहना गजब है ! मालूम होता है—मेघदूत के "कनक-वलय-भ्रंश-रिक्त-प्रकोष्ठः" से टटोलकर इस कदर्थ की प्रेरणा प्राप्त की गई है। वस्तुतः नारी-सौन्दर्य्य के चित्रण में वहाँ 'पेडू' पर पाई जानेवाली त्रिवलियों का उल्लेख कालिदास ने किया है।

इसी प्रकार 'व्यञ्जना' शब्द का अद्‌भुत यौगिक अर्थ किया गया है—"एक विशेष रूप से प्रभावशाला अञ्जन जिसके कारण एक नया अर्थ प्रकाशित होने लगता है।" (पृ० ६)—यह प्रायः संस्कृत के "अञ्जनं व्यञ्जनं व्यापारः" का ही मौलिक भाष्य है ! १२वें पृष्ठ में जोर देकर कहा गया है—"विश्वनाथ ने व्यञ्जना के प्राधान्य पर पाँचवाँ परिच्छेद ही लिख डाला है"। किन्तु यह विश्वनाथ का अनुकरण-मात्र ही है ; क्योंकि उनसे कई सौ वर्ष पहले मम्मट भट्ट 'काव्यप्रकाश' के पाँचवें उल्लास में और अधिक पाण्डित्यपूर्वक इस विषय का विशकलन कर चुके थे।

२३२ वें पृष्ठ में अरस्तू से लेकर कालरिज, एडिसन, वर्डस्वर्थ, वाल्टर पेटर, रिचर्ड्स, क्रोचे, स्पिन्गर्न, टी० एस० इलिएट, मिडिलटन मरे, जेम्स स्काट, नाट्य-शास्त्र, काव्यादर्श, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगङ्गाधर आदि पाश्चात्य-पौरस्त्य आलोचकों एवं आलोचना-ग्रन्थों की एक लम्बी तालिका प्रस्तुत की गई है। मैं समझता हूँ, उनका 'सर्वे' कर लेने पर एक ऐसे सर्वाङ्गपूर्ण समीक्षा-ग्रन्थ की कल्पना की जा सकती है, जिसका आभास भी आलोच्य ग्रन्थ से नही मिलता। ऐसे ही Speculative Criticism के एक ही कठघरे में पं० रामदहिन मिश्र के 'काव्यालोक' और आचार्य्य शुक्ल की 'चिन्तामणि' को कैद देख यही कहने की इच्छा होती है कि—

"दृषदो भवन्ति दृषदश्चिन्तामणयोऽपि हा दृषदः !"

पुस्तक के सर्वश्रेष्ठ अंश वह है, जहाँ लेखक ने 'साहित्यालोचन' में अंकुरित "रस और मनोविज्ञान", "कविता और स्वप्न", "काव्य और कला" आदि विषयों को स-विशेष पल्लवित-पुष्पित किया है ; आचार्य्य शुक्ल तथा श्यामसुन्दरदासजी के मतों का खण्डन-मण्डन किया है और बहुतेरे गूढ-गम्भीर तत्त्वों को सरल-सुबोध भाषा में विशद किया है। वैसे विहङ्गम-दृष्टि डालने के लिए तो यह पुस्तक आदि से अन्त तक उपयोगी है और रोचकता के कारण विद्वानों और विद्यार्थियों के लिए समान रूप से आकर्षक भी।

श्रीगुलाबरायजी साहित्यिक के साथ-साथ दार्शनिक भी है, इसलिए उनका वस्तु-प्रतिपादन संक्षिप्त होने पर भी तार्किक और प्राञ्जल होता है। 'रसनिष्पत्ति', 'साधारणीकरण', 'कलावाद' आदि लेख इसके उज्ज्वल प्रमाण है। क्रोचे के ये शब्द उनके मस्तिष्क मे अच्छी तरह खुद गये है कि—

हिमालय

'He who has nothing to express may try to hide his internal emptiness with a flood of words.'—ऐसा न होता तो कुंठित आलोचकों की तरह वह भी लक्ष्य व्यंजना लक्षणा को भलीभांति समझे-बूझे बगैर ही 'रोमांटिक', 'क्लैसिक', 'साइकोलॉजिकल', 'रियलिस्टिक', 'व्यंजना', 'कल्पना' आदि शब्दों का जाल बुनकर पाठकों को उलझा सकते थे और तब सहृदयों को उनकी दुर्बलताएँ परखने का कदाचित् ही साहस होता !—'गुणानामेवतं तव जानामि दोषः परिहृतः !'

'शब्द-शक्ति', 'ध्वनि और उसके भेद'—ऐसे लेख शुद्ध शास्त्रीय होने के बावजूद भी दुरूह या नीरस नहीं हैं और जहां तक सिद्धान्तों के अध्ययन का प्रश्न है, शायद ही कोई सिद्धान्त लेखक की विवेचना से वञ्चित रहा हो।

'समालोचना के मान'-नामक निबन्ध भी काफी सुन्दर है। इस छोटे-से लेख में इस सम्बन्ध की छोटी-मोटी प्रायः सभी बातें आ गई हैं। कुछ नयापन भी है जहां पन्तजी के गन्ध-चित्र का उल्लेख है। पन्तजी हिन्दी के बेजोड़ कलाकार हैं। उन्होंने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—सबके अनुपम चित्र चित्रित किये हैं। निश्चय ही ऐसी सूक्ष्मों पर पाश्चात्य कवियों और आलोचकों का सुप्रभाव है, अन्यथा संस्कृत-साहित्य में भी ऐसे वर्णनों की कमी नहीं है, मगर उधर कभी कोई दृष्टि डालता ही नहीं। निरालाजी ने अपनी और पंतजी की रुचि-रुचि गुलाबरायजी से बतलाई थी कि उन्हें काली वस्तुएँ प्रिय हैं और पंतजी को श्वेत। उन्होंने मुझसे कहा था कि कालिदास की भांति उन्हें भी 'नीलिमा' प्रिय है, किन्तु उनके काव्य में जितने ज्योतिर्मय, प्रकाशमय चित्र हैं उतने कदाचित् ही अन्यत्र देखने को मिलें। पर इस पर गुलाबरायजी की कोष्ठबद्ध टिप्पणी विचारणीय है; क्योंकि व्यवहार में गोरे लोगों की ही रुचि श्यामल परिधान की ओर पाई जाती है।

मुद्रण-सम्बन्धी दोषों की गिनती नहीं की जा सकती, पूरी पुस्तक में संस्कृत के उद्धरणों की भरमार है और वह लगभग सब के सब अशुद्ध हैं ! अवश्य ही अंग्रेजी के उद्धरणों की शुद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया है !

जब ऐथनी ब्लंट-ऐसे प्रगतिशील आलोचकों ने कला के लिए अद्‌भुत-अद्‌भुत भविष्यद्वाणी शुरू कर दी है और आज काव्य-कला को आर्थिक एवं राजनीतिक मान-दण्ड ही प्राप्त हो रहे हैं, तब हमारे आचार्य शुक्ल तथा श्यामसुन्दरदासजी की साहित्यिक और कलात्मक समीक्षा-पद्धति को प्रचलित, सजीव और सतेज रखने के सफल प्रयासी विद्वद्वर श्रीगुलाबरायजी विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं।

काव्य-साहित्य के अभिज्ञों तथा स्नेहियों के बीच इस ग्रन्थ का समुचित सम्मान अनिवार्य है।

—श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री

हमारी साहित्यिक प्रगति

हिन्दी और हिन्दुस्तानी

हमारे देश को औपनिवेशिक स्वराज्य मिल गया। विभाजित हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सरकारें अपना-अपना राज-काज सँभालने लगीं। अब हिन्दी और हिन्दुस्तानी का प्रश्न, हिन्दी-प्रेमियों और हिन्दी-हितैषियों की दृष्टि में, महत्त्वहीन हो गया। किन्तु पाकिस्तानी सरकार की भाषा-नीति की तरह हिन्दुस्तान की सरकार की भाषा-नीति अभी तक सन्तोषजनक रीति से स्पष्ट नहीं हुई है। फिर भी हिन्दीवालों को विश्वास है कि हिन्दुस्तानी के हिमायतियों का दुराग्रह दीर्घायु नहीं होगा। हिन्दुस्तान में अब हिन्दी की प्रगति रुक नहीं सकती। आखिर हिन्दुस्तानीवालों को अपयश के सिवा कुछ हाथ न लगेगा। जैसे उनका विश्वास अपनी दृढ़ता पर है वैसे ही हिन्दीवालों का भी अपने संकल्प पर। यदि उनके हाथ में अधिकार है तो हिन्दीवालों के हृदय में अनन्य अनुराग है। इस प्रकार, हिन्दुस्तानी अधिकार-मद में फूली हुई है और हिन्दी स्वाधिकार-रक्षा के लिए कमर कस चुकी है। इस युग का अनुभव यही बतलाता है कि अधिकार की प्राप्ति और रक्षा के लिए जूझने की हिम्मत रखनेवालों के सामने अधिकार-मद को घुटने टेकने पड़े हैं !

—शिव

भक्त और भगवान की लड़ाई !

हिन्दी और हिन्दुस्तानी का झगड़ा भक्त और भगवान का झगड़ा है ! यह झगड़ा नहीं, रगड़ा है। हिन्दी कहती है—"जनम कोटि लगि रगरि हमारी, बरौं संभु न तु रहौं कुँआरी।" हिन्दुस्तानी कहती है—"कहइ करहु किन कोटि उपाया, इहाँ न लागिहि राउरि माया ; देहु कि लेहु अजस करि नाहीं, मोहि न बहुत प्रपंच सोहाही।" पहला कथन पार्वती का है, दूसरा कैकेयी का। दोनों का भुगतान जग-जाहिर है ! भक्त और भगवान की लड़ाई का नतीजा भी दुनिया खूब जानती है। हिन्दुस्तानी के पक्ष में जगन्मान्य महात्मा गान्धी हैं जिनके चरणों पर बृटिश साम्राज्य को सिर टेकना पड़ा है। बड़े-बड़े त्यागी-तपस्वी नेताओं की सेना उनके साथ है जिसकी अमोघ शक्ति के प्रभाव से दुर्लभ स्वराज्य भी सुलभ हुआ है। किन्तु हिन्दी के पक्ष में केवल हिन्दीभक्तों की श्रद्धाभक्ति ही है। हिन्दी के पास तर्क-युक्ति के तीखे-चोखे तीर भी हैं ; पर हिन्दुस्तानी के पास राजकीय सत्ता का अजेय ब्रह्मास्त्र है। तब भी हिन्दी [illegible] नहीं है। हनुमान ने ब्रह्मास्त्र झेलकर भी रामकाज साधा था। हि[illegible]स्त्र झेलेगी, रामकाज सावेगी। 'रामकाज कीन्हें बिना' उसे [illegible] पूज्य बापू का आशीर्वाद सबसे

पाया था, जिसमें से अब हिन्दुस्तानी भी हिस्सा बटाना चाहती है—नही, वह तो बापू का सारा वरदान ही स्वयं हड़प जाना चाहती है! आश्चर्य और दुःख है कि उसके इस अन्याय की पीठ पर बापू का भी हाथ है! इतने पर भी, जितने हिन्दी-भक्त है, सब बापू के भी भक्त हैं। वे जानते और मानते हैं तथा भारतीय परम्परा भी बतलाती है कि जब-जब भक्तो ने भगवान से रार ठानी है, विजय पाई है। बापू से या उनकी सेना से लोहा लेने की शक्ति हिन्दीभक्तों मे भले ही न हो, भक्त मे भगवान से भिड़ने की शक्ति होता भी नही; किन्तु भगवान की भक्ति के बल पर ही भक्त निर्भय हो भगवान से उलझ पड़ता है। भगवान की पूरी जीवनी पढ़ जाइए, उनके गले मे हमेशा 'हार' का ही हार पड़ा है, भक्तों से जयमाल उन्हे कभी नसीब ही न हुई!

—शिव

हिन्दी के हक पर हिन्दुस्तानी का कब्जा

'दक्खिनी हिन्द' मद्रास-सरकार का मासिक मुखपत्र है। उसके जुलाई (१९४७) के अंक मे देशरत्न डॉक्टर राजेन्द्रप्रसादजी का एक भाषण छपा है। दक्षिणभारत की हिन्दी-प्रचार-सभा का नाम बदलकर हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा रखा गया है! यह 'शुभ' कर्म पूज्य राजेन्द्र बाबू से कराया गया है! १९ मई (१९४७) को हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा के भवन की नीव रखते हुए पूज्य राजेन्द्र बाबू ने जो भाषण किया उसका एक महत्त्वपूर्ण अंश हम यहाँ अविकल उद्धृत करते है—"जो संस्कृत और हिन्दी के पक्षपाती है उनसे मै यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दुस्तानी से घबड़ाने की कोई बात नही है। बात यह है, अगर मुझे बंगाल जाकर हिन्दुस्तानी बोलना पड़े तो विशेषकर हिन्दुस्तानी मे मुझे ऐसे अल्फाज लाने पड़ेंगे जो संस्कृत से आये हुए है, क्योकि वहाँ के लोग संस्कृत से मिली हुई भाषा को ज्यादा समझ सकेंगे, और अगर मुझे फ्रांटियर या पश्चिमी पंजाब में बोलना पड़े तो वहाँ मुझे ऐसी भाषा बोलनी पड़ेगी जिसमे ज्यादा फारसी अल्फाज आये; क्योंकि उधर के लोग ज्यादा फारसी समझेंगे। हिन्दुस्तानी की सबसे बड़ी बात यह होगी कि उसमे संस्कृत और फारसी दोनों के लफ्ज रहेगे और इसलिए वह ऐसी होगी जिसको दोनो समझ सकेंगे।" हम अत्यन्त नम्रता से पूछना चाहते है—क्या 'हिन्दी की सबसे बड़ी बात' यह नही हो सकती? क्या हिन्दी में संस्कृत और फारसी के ऐसे शब्द नही खपे हुए है कि बंगाल और सीमान्त या पंजाब मे काम दे सके? क्या आज की जरूरत के मुताबिक हिन्दी अपनी शैली मे फारसी-अरबी-तुर्की शब्दों को नही खपा रही है? फिर क्या कारण है कि उसको राष्ट्रभाषा का नाम न देकर हिन्दुस्तानी को वह नाम जबरदस्ती दिया जा रहा है? राष्ट्रभाषा का नाम धारण करने का हक केवल हिन्दी का ही है,

हिन्दुस्तानी तो उसकी चेरी है—शैली मात्र है। भला चेरी किस कुलीनता के बल पर रानी बनने चली है ? हिन्दी में इतनी शक्ति पर्याप्त मात्रा में है कि वह अपना रूप सबके समझने योग्य बना ले। वह तो अपने को सर्व-सुगम भाषा साबित कर चुकी है। संस्कृतवालों की तो कोई बात ही नहीं, फारसीवालों को भी वह अपनी गोद में जगह देने को हमेशा तैयार है। तब भी उसके स्वाभाविक स्वत्व पर झपट्टा मारने के लिए हिन्दुस्तानी परचाई जा रही है ! हिन्दीवाले कभी जीते-जी यह बरदाश्त नहीं कर सकते। —शिव

काका साहब का 'विश्वास' !

आचार्य काका कालेलकर हिन्दुस्तानी के सुप्रसिद्ध भक्त हैं। १३ जुलाई (१९४७) के 'हरिजन-सेवक' में उन्होंने लिखा है कि पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के नाम से देश के दो टुकड़े हो जाने पर भी हिन्दुस्तानी के लिए 'हम विश्वास क्यों खोयें ?' तथा अपना यह दृढ़ विश्वास भी प्रकट किया है कि पाकिस्तान एक दिन हिन्दुस्तान में मिलकर रहेगा, इसलिए हिन्दुस्तानी को ही राष्ट्रभाषा बनाना आवश्यक है ! उनके निश्चय में कठोर आग्रह झलकता है—"देश की स्थिति का और देश के भविष्य का पूरा विचार करके हमने तो तय किया है कि आजतक जो नीति हमने चलाई, आइन्दा के लिए भी वही सही है। वही हम चलायेंगे। यानी जहाँ तक हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा का ताल्लुक है, हम आसान हिन्दी और सहल उर्दू के मिलाने से जो हिन्दुस्तानी बनती है उसीको राष्ट्रभाषा मानेंगे और उसके लिए नागरी और उर्दू—दोनों लिपियाँ लाजमी तौर पर सीखना जरूरी मानेंगे।" हिन्दुस्तानी की परिभाषा में हमारे नेताओं की कूटनीति का अज्ञेय रहस्य छिपा हुआ है ! कहते हैं आसान हिन्दी और सहल उर्दू, मगर महाराज मानसिंह की नीति निबाहने के लिए लिखते और बोलते है विकृत हिन्दी और क्लिष्ट उर्दू ! इससे भी बढ़कर जबरदस्ती यह करते है कि अपने भावों और विचारों को जिस भाषा-शैली में व्यक्त करते हैं वह यद्यपि हिन्दी की ही सुप्रचलित शैली होती है तथापि उसे वे हिन्दुस्तानी ही कहते है और इस प्रकार यह दावा कायम रखने की कोशिश करते है कि उन्हींके मुखारविन्द से जो भाषा टपकेगी वही राष्ट्रभाषा-पद की अधिकारिणी होगी ! जान पड़ता कि वे अपनी ही मानी हुई और गढ़ी हुई भाषा को जहर के घूंट की तरह जनता के हलक के नीचे जबरदस्ती उतारना चाहते है। जनता जबतक उनकी देशभक्ति और तपस्या का लिहाज करती है तबतक वे मजे में पापड़ बेल सकते हैं; मगर जिस दिन जनता अनुचित और अनधिकार जोर-जबरदस्ती महसूस करेगी उस दिन जैसे सभी अन्धपरम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह होगा वैसे ही भाषा-सम्बन्धी पर-रोचन-नीति के विरुद्ध भी। राजसत्ता की वैधानिक शक्ति के

... पर भाषा नहीं दबाई जा सकती। अगर अभी तक हैदराबाद में निर्ममता से हिन्दी की हत्या की गई है और उस दिन पाकिस्तान-विधान-परिषद् में भी श्रीयुत धीरेन्द्र नाथ दत्त को हिन्दी में भाषण करने की इजाजत नहीं दी गई, इधर हिन्दुस्तान में भी हमारे मान्य नेता हिन्दी को अपनी साम्प्रदायिक नीति का शिकार बनाना चाहते हैं। उन्हें याद रखना चाहिए कि वे जनता की शराफत से अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं। हिन्दुस्तान की जनता अब राष्ट्रभाषा का नाम 'हिन्दी' सुनना चाहती है। अगर उसपर कहीं जबरन हिन्दुस्तानी लादी जायगी तो वह उसे भाड़ पर चढ़ाये बिना न मानेगी। —शिव

'भारतीय संस्कृति'

हिन्दी के सुपरिचित साहित्यसेवी प्रोफेसर प्रभाकर माचवे, एम०ए० के सम्पादकत्व में, रतलाम (मध्यभारत) के 'भारतीय संस्कृति-सदन' से, 'भारतीय संस्कृति' नामक एक उत्तम त्रैमासिक पत्रिका, जुलाई (१९४७) से, निकली है। वार्षिक मूल्य इसका १) ही है। संभवतः हिन्दी में यही सबसे सस्ती त्रैमासिक पत्रिका है। किन्तु उत्कृष्टता एवं उपयोगिता में यह किसीसे कम नहीं है। इसके मुद्रण-सम्बन्धी कुछ दोषों के दूर करने में यदि प्रकाशक 'सदन' तत्पर रहा तो यह अपनी बहुमूल्य पाठ्यसामग्री के कारण हिन्दी के राष्ट्रभाषा-नाम का गौरव बढ़ाकर लोकप्रियता प्राप्त करेगी। इसमें हिन्दी की रचनाओं के साथ-साथ मराठी, गुजराती, तामिल, बँगला और अँगरेजी की गद्य-पद्य-रचनाओं के सुगम हिन्दी-अनुवाद भी दिये गये हैं। पहला लेख 'भारतीय संस्कृति' मराठी से अनुवादित है। उसकी कुछ ध्यानव्य पंक्तियों को हम संक्षेप में यहाँ देते हैं—"भारतीय संस्कृति हृदय और बुद्धि की पूजा करनेवाली है। उसका अर्थ है—विशालता, सत्य के प्रयोग, स्थाणु न रहते हुए ज्ञान की टोह में सतत आगे बढना। दुनिया में जो भी कुछ सुन्दर, शिव और सत्य है उसे लेकर बढ़नेवाली यह संस्कृति है। दुनिया के सब ऋषि-महर्षियों को, संतों को यह पूजती है। महत्ता कहीं भी हो, यह उसकी पूजा करेगी—आदर और आनन्द से उसका संग्रह करेगी। संकुचित वृत्ति इसे मान्य नहीं। भारतीय संस्कृति कहते ही सागर और अम्बर—यह दो महान वस्तुएँ मेरे आगे खड़ी होती है; प्रकाश और कमल—यह दो दिव्य वस्तुएँ झलकती है; त्याग, संयम, वैराग्य, प्रेम, ज्ञान, विवेक की याद हो आती है। भारतीय संस्कृति का अर्थ है सान्त से अनन्त की ओर, भेद से अभेद की ओर, कीचड़ से कमल की ओर, विरोध से अविरोध की ओर, विकार से विवेक की ओर, कोलाहल से संगीत की ओर, दुर्व्यवस्था से व्यवस्था की ओर बढ़ते जाना। इसका अर्थ है मेल—सब धर्मों का, सब जातियों का, सब ज्ञान-विज्ञानों का, सब कालों का, सारी

मानव-जाति का। प्रयत्नवाद और आशावाद का समन्वय भारतीय संस्कृति है।" श्रीतेजनारायण काक, एम० ए० की कविता (आवश्यकता का अजगर) सर्वोत्तम है—अनुभूत सत्य को प्रत्यक्ष करती है—

"आज विश्व को निगल रहा है आवश्यकता का अजगर
जिसका अधर टिका है भू पर ओठ छू रहा है अम्बर
जिसके विषमय दाँत दमकते विस्फारित मुख के अन्दर
लाल-लाल दो नेत्र धधकते अंगारों-से मस्तक पर
जिसकी खर-निश्वास-वायु के सहस्र-पाश में बँध-बँधकर
विवश खिंचे जाते हैं मानव क्षुधित अतल उर के भीतर
जिस आवश्यकता-अजगर से भीत त्रस्त हैं सचराचर
कौन करेगा उसका कीलन तंत्र-मंत्र संयम-बल पर?"

प्रोफेसर प्रकाशचन्द्रगुप्त ने अपने विचारपूर्ण लेख (प्रगतिवाद की व्याख्या) में प्रगतिवाद की जन्मकथा और महत्ता बतलाई है—"संगठित आन्दोलन के रूप में भारतीय प्रगतिवाद का जन्म सन् १९३६ में उसकी कान्फ्रेन्स से हुआ। यह कान्फ्रेन्स लखनऊ में हुई और प्रेमचन्द इसके सभापति थे। प्रेमचन्द एक लम्बे अरसे से हिन्दी और उर्दू में लिख रहे थे। उनके सहयोग से प्रगतिवादी आन्दोलन को बहुत प्रोत्साहन मिला। प्रेमचन्द के साहित्य में शोषित वर्गों के उत्पीड़न का चित्र है। प्रगतिवाद इस समुदाय के प्रति न्याय की माँग लेकर बढ़ा था, अतएव प्रेमचन्द इस आन्दोलन के स्वाभाविक नेता और अग्रणी थे। प्रेमचन्द भारतीय परिस्थितियों की जिस माँग को साहित्य में पूरा कर रहे थे उसीने प्रगतिवाद को भी जन्म दिया। ××× हिन्दी का अधिकतर जागरूक साहित्य प्रगतिवाद से प्रभावित है; क्योंकि प्रगतिवाद आज हिन्दी की सबसे बलवती धारा है। छायावाद का उत्तराधिकार उसने दृढ़ता से सँभाला और हिन्दी-साहित्य को नवीन गति और शक्ति दी। जब कलाकार का सम्बन्ध समाज से टूट रहा था, प्रगतिवाद ने फिर से यह सम्बन्ध जोड़ा और साहित्य में मानवता की पुकार उठाई। समाज के सबसे दलित और दीन वर्गों का अगुआ साहित्य बना, और यह नया प्राण-बल खोजने में उसने कला का अभिनव शृंगार किया, और अभिव्यक्ति के नये मार्ग निकाले।" यह स्पष्ट व्याख्या साधारण हिन्दी-पाठकों के लिए भी सुबोध है। पुराने साहित्यिक डॉक्टर दिवेकर साहित्याचार्य ने 'ब्रह्मगंगा' नामक लेख में बड़े मार्के की एक बात लिखी है—"आज ब्राह्मण कहलानेवाला प्रत्येक व्यक्ति अपनेको किसी-न-किसी गोत्र का समझता है। ये गोत्र प्राचीन ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। पर इनकी संख्या भी आज निश्चित करना असंभव है। महाभारत के

जिसके व्यास मुनि के अनुसार 'मूल गोत्र चार ही हैं—वशिष्ठ, भृगु, कश्यप तथा अंगिरा; दूसरे गोत्र कर्मों से होते हैं'—इसका अर्थ स्पष्ट है कि प्राचीन काल में ब्राह्मण जन्म से नहीं होते थे, कर्मों से होते थे। अपना सर्वस्व प्रजाहित के लिए देनेवाले ब्राह्मण होते थे। पर, आगे चलकर अपने-अपने गोत्राभिमान से ब्राह्मण विभक्त होने लगे। अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए धन, जमीन तथा अधिकार बटोरकर जमने लगे और लोकोपकार के कार्य को भूलते गये। ब्राह्मणों का महत्त्व इन कारणों से घटता गया। अंत में जब से इन्होंने अपने कुल या गोत्र सीमित कर दिये तब से यह गंगा गंदी होती हुई खारे समुद्र में जा मिली। ब्राह्मण-संस्कृति यदि फिर से उज्जीवित करना हो तो जो देश के लिए, जाति के लिए अपना सर्वस्व-अर्पण करें, संग्रह न करें, वे त्यागी पुरुष ही ब्राह्मण कहलाये जायें।" विद्वद्वर डॉक्टर भगवानदासजी ने भी अपने कई निबन्धों में इसी मत का प्रतिपादन किया है। आचार्य शुक्लजी ने भी अपने एक निबन्ध में लिखा है कि वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था तभी से बिगड़ी जब से उच्च वर्णों में कर्त्तव्य-ज्ञान शिथिल हो गया। यथा—"ब्राह्मणों और क्षत्रियों को लोकहित के लिए अपने व्यक्तिगत सुख का हर घड़ी त्याग करने के लिए तैयार रहना पड़ता था। ब्राह्मणों को तो सदा अपने व्यक्तिगत सांसारिक सुख की मात्रा कम रखनी पड़ती थी। क्षत्रियों को अवसर-विशेष पर अपना सर्वस्व—अपने प्राण तक—छोड़ने के लिए उद्यत होना पड़ता था। जबतक उच्च श्रेणियों के कर्त्तव्य की कठिनता प्रत्यक्ष रहेगी—कठिनता के साक्षात्कार के अवसर आते रहेंगे—तबतक नीची श्रेणियों में ईर्ष्याद्वेष का भाव नहीं जाग्रत हो सकता। जबतक वे क्षत्रियों को अपने चारों ओर धन-जन की रक्षा में तत्पर देखेंगे, ब्राह्मणों को ज्ञान की रक्षा और वृद्धि में सब कुछ त्यागकर लगे हुए पावेंगे, तबतक वे अपना सब कुछ उन्हीं की बदौलत समझेंगे और उनके प्रति उनमें कृतज्ञता, श्रद्धा और मान का भाव बना रहेगा। जब कर्त्तव्यभाग शिथिल पड़ेगा और अधिकार-भाग ज्यों का त्यों रहेगा, तब स्थिति-विघातिनी विषमता उत्पन्न होगी।" इसी विषमता के कारण आज हर तरफ संघर्ष बढ़ता नजर आ रहा है! श्रीमती लीलावती मुन्शी ने 'प्राच्य और पाश्चात्य संगीत' पर तुलनात्मक विचार उपस्थित करते हुए कहा है—"भारतीय संगीतपद्धति युरोपीय संगीतपद्धति से बिलकुल भिन्न है। वहाँ न तो रागों के लिए भिन्न-भिन्न वर्ग ही है और न उनके गाने के लिए विशेष समय तथा ऋतु ही निश्चित है। भारतीय संगीत में शास्त्रीयता की अपेक्षा कलात्मकता अधिक है। वह गति मे तीव्र है, युरोपीय संगीत मूलतः वैज्ञानिक है। भारतीय संगीत के लिए मधुर तथा कोमल ध्वनि की आवश्यकता है, युरोपीय संगीत को गंभीर।" उनके विचारों में मतभेद की काफी गुंजायश है। दो कविताएँ और भी बहुत सुन्दर हैं—'तृप्ति' (श्रीशम्भू-

नाथसिंह) और 'साँझ हो गई' (श्रीहरिनारायण व्यास)। दोनों में कल्पना और हार्दिकता का मधुर संयोग है। 'व्रजभारती'- सम्पादक श्रीसत्येन्द्र, एम०ए० का लेख ('मंजरी' का मूल) बहुत ही सरस और गवेषणापूर्ण है। 'साहित्यसंवाद' नामक स्तम्भ हमें बहुत पसन्द आया। उसमें देश-भर के मुख्य साहित्य-केन्द्रों के कलाकारों और साहित्यिक संस्थाओं की प्रगति के संक्षिप्त विवरण दिये गये हैं। 'सम्पादकीय विचार' बड़े गंभीर, ज्ञानवर्द्धक, ओजपूर्ण और मनन करने योग्य हैं। यह पत्रिका उपयुक्त समय में प्रकाशित हुई है। इस समय ऐसी पत्रिका की आवश्यकता थी। सम्पादक भी इसको बहुत अच्छे मिल गये हैं। भविष्य इसका उज्ज्वल दीखता है। हमें विश्वास है कि इसके गुणों से आकृष्ट होकर हिन्दीपाठक इसका सादर स्वागत करेंगे।

—शिव

'नया हिन्दुस्तान'

बनारस से 'नया हिन्दुस्तान' नामक साप्ताहिक पत्र हरिशयनी एकादशी (२९ जून १९४७) से निकलने लगा है। इसके प्रधान सम्पादक श्रीशम्भूनाथसिंह, एम०ए० हिन्दी के सुपरिचित कवि, कथाकार और पत्रकार हैं। इसके सहकारी सम्पादक श्रीठाकुरप्रसादसिंह भी अपने 'महामानव' नामक सुन्दर काव्यग्रन्थ के कारण बहुत विख्यात हैं। दूसरे सहकारी हैं श्रीकिशोरीरमन राना। तीनों ही सज्जन बड़े उद्योगी और कर्मठ जान पड़ते हैं। उनका स्वावलम्बन और अध्यवसाय अनुकरणीय है। उनके प्रथम प्रयास में ही उनकी आशातीत और कल्पनातीत सफलता देखकर चकित रह जाना पड़ता है। आठ रुपये वार्षिक मूल्य में लगभग तीस-बत्तीस पृष्ठों का सर्वाङ्गसुन्दर साप्ताहिक निकालकर वे पूर्व-प्रतिष्ठित साप्ताहिकों के साथ अगली कतार में तनकर आ खड़े हुए हैं। हमें उनके साहस और लगन की प्रशंसा करने में बड़ा सन्तोष हो रहा है। उनके अनुभव की पूंजी थोड़ी कही जाय भले ही, पर उनके परिश्रम की पूँजी इतनी प्रचुर है कि 'पत्र' का प्रत्येक पृष्ठ उसका प्रमाण पेश कर रहा है। उनके सम्पादकीय विचारों में ओज और तेज काफी नजर आता है। उनके सम्पादनकौशल में भी आधुनिकता की मात्रा पर्याप्त है। सभी सामयिक विषयों पर सुसम्पादित पाठ्यसामग्री, निर्भीकतापूर्ण न्यायोचित सम्पादकीय अग्रलेख और टिप्पणियाँ, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के समाचारों का संकलन, सुरुचिपूर्ण साहित्यिक चर्चा, देश-विदेश के ज्वलन्त प्रश्नों पर निष्पक्ष विचारों का प्रकाशन, भारत के विभिन्न प्रान्तों का भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परिचय, सब कुछ इस पत्र में बड़े ठिकाने से सजा-सजाया मिलता है। हम हिन्दी में ऐसे उच्चकोटि के साप्ताहिक पत्र के शुभागमन का सादर अभिनन्दन करते हैं। ईश्वर इसे अमर करें।

—शिव

मध्यप्रदेश का साहित्यिक मासिक 'शुभारम्भ'

जबलपुर के साहित्य प्रेस से, तरुण साहित्यसेवी श्रीव्योहार राजेन्द्रसिंहजी के सम्पादकत्व में, प्रथम अगस्त से 'शुभारम्भ' प्रकाशित हुआ है। लगभग पचास पृष्ठों का यह छोटा-सा पत्र यद्यपि साधारण कागज पर सफाई से ही छपा हुआ है तथापि इसमें प्रकाशित रचनाएँ बड़ी अच्छी और पठनीय हैं। चार रुपये वार्षिक मूल्य में ऐसा बढ़िया साहित्यिक मसाला बहुत कम पत्र देते हैं। इस एक पत्र से ही मध्यप्रदेश की साहित्यिक प्रगति की झलक मिल जाती है और हिन्दीसंसार की गतिविधि का भी पता लग जाता है। 'संकलन' और 'संचय' नामक स्थायी स्तम्भों में हिन्दीजगत् के उल्लेखनीय शुभाशुभ विषयों का संग्रह करके सम्पादक ने अपनी परिष्कृत रुचि का प्रशंसनीय परिचय दिया है। उसमें जनहित की परख भी झलकती है। सम्पादक की सूझ और लगन में सहृदयों के लिए एक विचित्र आकर्षण है। यद्यपि कविताएँ नहीं हैं तथापि गद्य-लेख बड़े सरस और मनोहर हैं—'चित्तवृत्ति ध्यान' (काका कालेलकर), वर्षाऋतु (रवीन्द्रनाथ ठाकुर), संस्कृति-केन्द्र की रूपरेखा (श्रीबनारसीदास चतुर्वेदी), नर्मदा का सन्देश (आचार्य क्षितिमोहन सेन)। इनके अतिरिक्त स्वयं सम्पादक के लिखे दो लेख भी हैं—महाभारत की महत्ता' और 'संग्रहालयों द्वारा शिक्षा'। समालोचनाएँ और साहित्यिक टिप्पणियाँ—सब सम्पादक की ही लिखी हुई हैं और पत्र के आधे से अधिक अंश में उनका विस्तार है। इन सभी सम्पादकीय लेखों से सम्पादक की बहुज्ञता और बहुश्रुतता स्पष्ट व्यक्त होती है। हिन्दीभाषा और हिन्दीसाहित्य से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर सम्पादक ने बड़े अच्छे सुझाव पेश किये हैं और उनके सुलझे विचारों में चिन्तनशीलता की गहराई भी काफी है। हम ईश्वर से इस साहित्यिक सखा की दीर्घायु-कामना करते हैं। —शिव

साहित्यिक-सांस्कृतिक मासिक पुस्तिका 'समता'

मध्यप्रदेश से ही 'समता' भी सितम्बर (१९४७) से निकलने जा रही है। इसके सम्पादक-मण्डल में छ विद्वान् साहित्यकार हैं—श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी, श्रीरामेश्वर शुक्ल 'अंचल', श्रीशिवदान सिंह चौहान, डाक्टर नारायण विष्णु जोशी, श्रीगोपीकृष्णप्रसाद, श्रीगजानन माधव मुक्तिबोध। श्रीवसन्त पुराणिक इसके प्रबन्ध-सम्पादक हैं। वार्षिक मूल्य इसका दस रुपया होगा और एक प्रति का एक रुपया। पता है इसका—६०१ गोलबाजार, जबलपुर। इसके परिचय-पत्र का संक्षिप्त अंश इस प्रकार है—"नई प्रगतिशील चेतना का साहित्यिक माध्यम होने के साथ ही साथ 'समता' हिन्दी की साहित्यिक परम्परा के आलोचन, उन्नयन तथा विकास में सहायक होने का प्रयत्न करेगी। उसके द्वारा जीवन तथा साहित्य की

समस्याएँ परखी जायँगी। वह साहित्य और कला के नवीन प्रयोगों का स्वागत करेगी जिससे नवीन परिस्थिति के अनुकूल अभिव्यंजनाशैली का विकास हो। साहित्य का अन्य कलाओं के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए संगीत, नाटक, जननाट्य, लोकगीत तथा लोक-कलाओं की भी उपेक्षा नहीं की जायगी। उसमें विदेशी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के कलाकारों की कला और साहित्य का अध्ययन नियमित रूप से मिलेगा। दर्शन, पुरातत्त्व, इतिहास, राजनीति आदि विषयों पर भी उसमें गंभीर लेख मिलेंगे। हिन्दी के श्रेष्ठ विचारकों तथा लेखकों का सहयोग उसे प्राप्त है। नई प्रतिभाओं के लिए उसके पृष्ठ खुले हुए हैं।" उधर लब्धप्रतिष्ठ सम्पादक-मण्डल, इधर आशा और उल्लास बढ़ानेवाले अभिवचन—विश्वास जमना स्वाभाविक है। हिन्दी की चौमुखी उन्नति देखकर हृदय आनन्द-विह्वल हो उठता है—कुछ कहने की इच्छा रहते हुए भी कुछ कहते नहीं बनता। मगर इस समय इतना ही कहना काफी है कि 'समता' से आशाएँ बहुत बड़ी-बड़ी हैं जिनकी पूर्त्ति प्रथमाङ्क से ही होने लगेगी—ऐसी ही हमारी निश्चित धारणा है। तथास्तु।

—शिव

'पाकिस्तान की प्रेरणा' और सर इकबाल

प्रवासी-भवन (अजमेर) से स्वामी भवानीदयालजी संन्यासी लिखते हैं—"हिमालय के नवें अंक मे श्री 'दिनकर'जी का लेख मै बड़े ध्यान से पढ़ गया। उन्होंने मुस्लिम मनोवृत्ति का जो विश्लेषण किया है वह उनकी गंभीर गवेषणा का परिचायक है। खेद है कि मुझे एक बात खटकती है। जिस समय महाकवि इकबाल ने 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' की रचना की थी उस समय वह पक्के हिन्दुस्थानी और राष्ट्रवादी थे, उनपर उन दिनों मुस्लिम मतान्धता की छाप नहीं पड़ी थी। इकबाल का वह गीत राष्ट्रीयता से ओतप्रोत है, उसमें साम्प्रदायिकता की अप्रत्यक्ष झलक भी नहीं है। उसमें 'चीनो अरब हमारा, हिन्दोस्ताँ हमारा; मुस्लिम है हम, वतन है सारा जहाँ हमारा' यह नई पंक्ति कहाँ से आ गई? उसमें तो इकबाल स्पष्ट कहते हैं—'यूनानो मिस्र रोमाँ, सब मिट गये जहाँ से; अब तक मगर है बाकी नामोनिशाँ हमारा; कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी, सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमाँ हमारा'—अर्थात् मुस्लिम मतान्धता के कारण ईरान और मिस्र की पुरानी सभ्यताएँ मिट गईं, मगर हिन्दुस्तान की अबतक कायम है; यद्यपि भारतीय संस्कृति पर भी सदियों से मुस्लिम आक्रमण होता रहा, फिर भी इसमें कोई ऐसी विशेषता है कि वह अभी तक अपने असली रूप में बनी हुई है। वास्तविक बात तो यह है कि जब इकबाल राष्ट्रीयता को तिलांजलि देकर मुस्लिम लीगी मुल्ला और पाकिस्तान के स्वप्नदर्शक

तब गये उन मुसलमानों ने उनसे प्रार्थना की कि जनगणमन राष्ट्रीय गीत के तर्ज पर एक इस्लामी कविता भी बना दें। इसी पर उन्होंने यह मजहबी शायरी की जिसके आधार से यह पाकिस्तान में पैदा गाई गयी है। उनके भारत-प्रसिद्ध राष्ट्रीय गीत में 'चीनो अरब हमारा ....' आदि पंक्तियाँ ही नहीं, वे तो साम्प्रदायिक गीत की कड़ियाँ हैं। 'इकबाल'जी हमारे एक अनमोल रत्न हैं। उनके लेख के पाठकों के लिए यह [illegible] विवेचन मात्र है।" आशा है, स्वामीजी की इस सूचना से हमारे पाठकों को सन्तोष होगा। —शिव

अखिल भारतीय साहित्य-सम्मेलन

दिल्ली में १३-१४-१५-१६ सितम्बर (१९४७) को प्रमुख भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों का सम्मेलन होनेवाला है। दक्षिण-हैदराबाद की 'प्रेमचन्द-सोसायटी' के तत्त्वावधान में इसका आयोजन हो रहा है। इसके संयोजकों में डॉक्टर राजेन्द्रप्रसादजी, डॉक्टर जाकिरहुसेन, श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्रीवियोगी हरि, श्रीजैनेन्द्रकुमार, श्रीशान्तिस्वरूप भटनागर, काजी अब्दुलगफ्फार आदि माननीय सज्जन हैं। इसके स्वागताध्यक्ष हैं सर शंकरलाल और कार्यसमिति के अध्यक्ष हैं श्रीजैनेन्द्रकुमार। प्रधान मंत्री हैं श्रीमती सत्यवती मल्लिक और डॉक्टर अख्तर हुसेन रायपुरी तथा कार्यालय-मंत्री श्रीयशपाल जैन। इस सम्मेलन के आयोजन का 'मूल उद्देश्य यह है कि भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं के साहित्यकार एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आकर साहित्य की विशिष्ट एवं सामान्य समस्याओं पर विचार कर सकें।' निस्संदेह उद्देश्य बहुत पवित्र और महान् है। इसकी सफलता में भी कोई शंका नहीं है; क्योंकि देश के स्वाधीन होने के कारण इसकी सिद्धि में बाधा पड़ने की संभावना नहीं है। सभी भारतीय साहित्यकारों के सद्भावना-प्रेरित सहयोग से हमारी सांस्कृतिक प्रगति निश्चय ही बलवती होगी। विशेषतः राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य का अभ्युदय और अभ्युत्थान तो इसी बात पर निर्भर है कि उसका घनिष्ठ सम्पर्क सभी देशी भाषाओं के साहित्य से स्थापित हो जाय। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह सम्मेलन एक सुसंगठित स्थायी संस्था के रूप में कायम रहकर भारत की राजधानी से सर्व-साहित्य-समन्वय का सूत्र-संचालन करता रहेगा। इसकी ओर से अनुभवी और मर्मज्ञ-विशेषज्ञ अनुवादकों, समालोचकों, संकलयिताओं तथा संपादकों के मण्डलों की स्थापना होनी चाहिए, जिनके द्वारा सभी भाषाओं के साहित्य पारस्परिक आदान-प्रदान से लाभान्वित होते रहें। साथ ही, इस संस्था की एक अपनी मुखपत्रिका भी होनी चाहिए जिसके द्वारा सभी भाषाओं के साहित्य की गतिविधि और विकासक्रम का पता लगता रहे। इन दो अत्यावश्यक कामों के सिवा ग्रन्थ-प्रकाशन-योजना पर भी ध्यान देना अनिवार्य है, जिससे प्रत्यक्ष लाभ

यह होगा कि एक भाषा के साहित्य-भाण्डार के उज्ज्वल रत्नों से दूसरी भाषा के साहित्य-कोष की श्रीवृद्धि होगी——गौरव-गरिमा बढ़ेगी। यों तो और भी कई काम हाथ में लेने योग्य हैं, पर इस समय यदि ये तीन काम ही ठिकाने से किये जायँ तो देश की साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना का नव-जागरण हमारी राष्ट्रीय एकता को खूब पुष्ट करेगा। हाँ, इन कार्यों की पूर्त्ति के लिए प्रचुर धन की आवश्यकता होगी। यह आर्थिक समस्या तो देश की वर्त्तमान परिवर्तित परिस्थिति में हिन्दी-हितैषियों के संकल्प मात्र से हल हो सकती है। आशा है कि हमारे देश के समवेत साहित्यिक परस्पर विचार-विनिमय कर शीघ्र ही उचित मार्ग का अवलम्बन करेंगे और हमारी राष्ट्रीय सरकार भी राष्ट्र-कल्याण की कामना से यथेष्ट द्रव्यदान देकर साहित्यकारों को अपना मिशन पूरा करने के लिए निश्चिन्त कर देगी।

—शिव

व्रज-साहित्य-मंडल (मथुरा) के सत्प्रयत्न

व्रज-साहित्य-मंडल एक सजीव संस्था है। उसकी गतिशीलता सदैव उन्नति की ओर उन्मुख रहती है। उसकी मुखपत्रिका 'व्रजभारती' व्रजभाषा-साहित्य के उद्धार, प्रचार और परिष्कार के लिए अथक प्रयत्न करने में सतत संलग्न है। 'मंडल' के सदुद्योग के फल-स्वरूप ही प्रतिवर्ष अखिल-भारतीय व्रज-साहित्य सम्मेलन हुआ करता है। उसका चतुर्थ अधिवेशन श्रीमान् पंडित कृष्णदत्त पालीवालजी की अध्यक्षता में फिरोजाबाद में हो चुका है। सन्तोष की बात है कि सम्मेलन के अधिवेशनों में प्रस्तावों की धूम नहीं मचने पाती। अबतक उसमें उतने ही प्रस्ताव स्वीकृत हुए है जितने कार्यरूप में परिणत किये जा सकते हैं। फिरोजाबाद में शोक-प्रस्ताव के अतिरिक्त केवल तीन ही प्रस्ताव स्वीकृत हुए हैं। यह 'मंडल' के विचारवान और कार्य-तत्पर संचालकों के कर्त्तव्य-ज्ञान का सूचक है। वे ढिंढोरा पीटना नहीं चाहते, ठोस काम करना पसन्द करते है। वे पंचवर्षीय योजना बनाकर सच्ची लगन से उसकी पूर्त्ति के निमित्त यत्नवान हैं। उस योजना की संक्षिप्त रूपरेखा का दिग्दर्शनमात्र निम्नलिखित कार्यक्रम से हो सकता है——ग्राम-साहित्य-संकलनकर्त्ताओं के लिए शिक्षण-शिविर की स्थापना, व्रज-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के लिए विद्यापीठ का संस्थापन, व्रज के भूगोल-इतिहास का शोधन और प्रकाशन, व्रजभाषा के कोष और व्याकरण तथा सचित्र व्रज-विश्वकोष का निर्माण, व्रज-साहित्य-संग्रहालय और व्रज-कला-परिषद् की स्थापना, कोष-व्याकरणादि के साथ व्रजभाषा के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों और संकलित ग्रामसाहित्य का प्रकाशन। अन्य जनपदों की बोलियों में भी जो लोक-साहित्य लुप्तप्राय और बिखरा पड़ा है उसके उद्धार एवं संग्रह के लिए भी इस योजना से काम

लिया जा सकता है। सभी प्रान्तों के लोक-संग्रही सज्जन इस योजना को अवश्य देखें और इससे प्रेरणा लेकर इसी के आधार पर अपनी प्रान्तीय सुविधा के अनुसार आसानी से नई योजना बना लें। डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल की जनपद-कल्याणी योजना का प्रचार पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी बहुत कर चुके हैं। इन योजनाओं के कार्यान्वित होने का समय आ गया। प्रान्तों के सांस्कृतिक विकास से ही राष्ट्र की शक्ति एवं विभूति की वृद्धि होगी। 'मण्डल' ने व्रज-ग्राम-साहित्य-संकलन का जो विवरण प्रकाशित किया है उसे भी प्रत्येक प्रान्त के लोकसाहित्यसंग्रही को देखना चाहिए और 'मंडल' द्वारा ही प्रकाशित 'ग्राम-साहित्य-संकलन-प्रणाली' नामक पुस्तक के अनुसार कार्यारम्भ कर देना चाहिए। 'मंडल' ने एक पुस्तक 'हस्तलिखितग्रन्थ-शोधन-विधि' भी प्रकाशित की है, उसके अनुसार भी प्रत्येक प्रान्त में प्राचीन ग्रन्थों का शोध होना आवश्यक है। ग्रामसाहित्य का संकलन तो कई प्रान्तों मे मन्द गति से हो भी रहा है; पर प्राचीन ग्रन्थों का शोध अभी तक काशीनागरीप्रचारिणी सभा द्वारा अधिकतर युक्तप्रान्त मे ही हुआ है—राजस्थान, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, बिहार आदि प्रान्त अछूते बचे हुए हैं; इन प्रान्तो में भी बहुत-से प्राचीन ग्रन्थरत्न बिखरे पड़े हैं जिनके उद्धार से हमारे साहित्य के इहिास को बहुत प्रकाश मिल सकता है। ऐसी शुभ प्रेरणाओ के लिए हमें 'मण्डल' का कृतज्ञ होना चाहिए। एक बात और हम 'मंडल' के ध्यान मे लाना चाहते हैं। वह है शीघ्रातिशीघ्र सूर-साहित्य का सम्पादन और प्रकाशन। तुलसी-साहित्य की टीकाएँ बहुत-सी हैं; पर सूर-साहित्य की एक भी टीका आजतक नही निकली! क्या व्रजमंडल में सूर-साहित्य के अनुरागी या मर्मज्ञ हैं ही नही? यह तो विश्वसनीय बात नही। 'मंडल' को इसीके लिए सबसे पहले उद्योग करना चाहिए। विश्वविद्यालयों और विद्यापीठो मे सूर का अध्ययन हजारों विद्यार्थी कर रहे है। उन्हें सूर-साहित्य की समालोचनाएँ तो बहुत मिल जाती है; पर सूर के पदो का स्पष्ट भावार्थ बतानेवाली कोई टीका नही मिलती। तुलसी-साहित्य में छात्रों को कभी कही कठिनाई नहीं झेलनी पड़ती; किन्तु सूर-साहित्य में उन्हे अनेक स्थलों पर निराशा होती है। व्रजभाषा-साहित्य के आदि-कवि की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए 'मंडल' को इधर ध्यान देना चाहिए। —शिव

हिन्दी में लिखा गया सबसे पहला फैसला

बुलन्दशहर (युक्तप्रान्त) के 'सिविल और असिस्टैण्ट सेशन जज' श्रीमोहनशंकर सक्सेना ने पहले-पहल हिन्दी में फैसला लिखना शुरू करके हाकिमों की आँख की पट्टी तो खोली ही है, हिन्दी के न्यायालय-प्रवेश-पथ पर भी आलोक की किरणें

छिटकाई हैं। वह एक पुराने हाकिम हैं। उन्होंने इण्ट्रेन्स तक ही हिन्दी पढ़ी है। आजकल के बहुतेरे हाकिम बी०ए० और एम०ए० तक हिन्दी पढ़े हुए हैं। उनमें कितने ही नवयुवक भी होंगे जो कालेज की हिन्दीपरिषद् में राष्ट्रभाषा के पक्षसमर्थन में जोशीला व्याख्यान झाड़ चुके होंगे। किन्तु समस्त देश में एक ही व्यक्ति ऐसा निकला, जिसने स्वराज्य के शुभागमन की आशा मात्र से हुलसकर, स्वराज्य-तिथि से एक मास पूर्व ही, निर्द्वन्द्व भाव से, साहसपूर्वक, हिन्दी में फैसला लिखने का श्रीगणेश कर दिया। अखबारों में इस खबर के छपने पर भी आजतक कहीं से किसी हाकिम के उत्साह-प्रदर्शन का समाचार नहीं मिला है। जब भारतीय विधान-परिषद् ने हिन्दी-नागरी में विधान तैयार करने का निश्चय प्रकट कर दिया तब तो कचहरियों के अफसरों को भी स्वाधिकार के सदुपयोग का साहस प्रदर्शित करना चाहिए। श्रीसक्सेनाजी ने सबसे आगे बढ़कर जो हौसला और हिम्मत दिखाई है उसके लिए हिन्दीसंसार में उनकी प्रशंसा ही हो रही है। किन्तु उन्होंने हिन्दी में फैसला लिखने का जो संकल्प किया है उसकी पूर्त्ति में वह बहुत-सी बाधाओं का भी अनुभव कर रहे हैं। वह लिखते हैं—"कानूनी शब्द हिन्दी में नहीं मिलते। हिन्दी के स्टेनो-टायपिस्ट नही मिलते। हिन्दी का टाइपराइटर तो मेरा अपना ही है। परन्तु उस पर खुद छापने या टायपिस्ट से छपवाने में समय बहुत लगता है। टाइप करना तो मैंने उसे सिखा लिया है, परन्तु हिन्दी-शॉर्टहैण्ड की किताबें नही मिलतीं जो उसे सिखाया जा सके। खैर, मैं तो अब यही प्रयत्न करूँगा कि अपना फैसला सेशन का हिन्दी में ही देता रहूँ—सिविल केस का हिन्दी में दे ही नहीं सकता जबतक रूल न बदल जाय। मेरी मंगलकामना यही है कि हमारी मातृभाषा हिन्दी को अपना पूर्व गौरव प्राप्त हो और यह भारत की राष्ट्रभाषा हो। मेरी अब पूर्ण चेष्टा यही रहेगी कि अधिक-से-अधिक निर्णय हिन्दी-भाषा में ही दिये जायँ। हिन्दी ही हमारी मातृभाषा है और कदापि कोई दूसरी भाषा उसका स्थान हमारे हृदय में प्राप्त नही कर सकती। मैं इस बात को अब दावे के साथ कह सकता हूँ कि हिन्दी को अब कोई उसके उच्च आसन से नही हटा सकता। न्यायालयों में हिन्दी का प्रचार अत्यन्त आवश्यक है। भारत के अधिकतर जन इसी भाषा से परिचित हैं। उनके आपसी झगड़ों का निर्णय उसी भाषा में होना चाहिए जिसको वे पूर्णरूप से समझ सकें और तब ही उनको न्यायालयों की कार्रवाइयों में वह अटूट विश्वास हो सकता है जैसा होना चाहिए और जिस विश्वास को उनमें उत्पन्न करना प्रत्येक सरकार का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है। परन्तु हमारे मार्ग में इस समय अनेक कठिनाइयाँ हैं। प्रथम तो सरकारी नियम कुछ ऐसे हैं जिनका हमें पालन करना ही है। जैसे सिविल जजी